Con. 4. VIII.5.40
320

अंक 8
संख्या 5

शुक्रवार
20 मई
सन् 1949 ई.

भारतीय संविधान-सभा

के

वाद-विवाद

की

सरकारी रिपोर्ट

(हिन्दी संस्करण)

विषय-सूची

पृष्ठ

संविधान का प्रारूप..... 265-326
[अनुच्छेद 86, 87, 88, 89, 90 तथा 91 पर विचार]

भारतीय संविधान-सभा

शुक्रवार, 20 मई सन् 1949 ई.

भारतीय विधान-परिषद् की बैठक कांस्टीट्यूशन हाल, नई दिल्ली में प्रातः 8 बजे, अध्यक्ष (माननीय डा. राजेन्द्र प्रसाद) के सभापतित्व में समवेत हुई।

***मौलाना हसरत मोहानी** (संयुक्तप्रांत : मुस्लिम): अध्यक्ष महोदय, आपकी निगाह में एक बहुत ही गम्भीर बात लाना चाहता हूं और वह यह है कि विधान-परिषद् की 5 जनवरी सन् 1949, कार्यवाही की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उस में कार्यवाही का एक बड़ा हिस्सा दबा दिया गया है। (देखिये अंग्रेजी रिपोर्ट का पृष्ठ 1267) रिपोर्ट में यह कहा गया है कि माननीय सरदार वल्लभभाई पटेल ने यह प्रस्ताव पेश किया कि भारत-शासन-अधिनियम में सुधार करने के हेतु उपस्थित किये गए विधेयक पर विचार किया जाये। किंतु तथ्य यह है कि उन्होंने विधेयक को उपस्थित करने की अनुमति, एक प्रस्ताव द्वारा चाही थी। मैं उनके प्रस्ताव का विरोध करना चाहता था और मैंने यह दलील दी थी कि उस समय उसके विरोध करने का मुझे पूरा अधिकार प्राप्त था। किंतु उपाध्यक्ष महोदय ने मुझे बोलने की ही अनुमति नहीं दी। उन्होंने यह कहा कि अगर मैं कुछ कहना चाहता हूं तो वह उस पर सभा की राय लेंगे। मेरी बात सभा ने अस्वीकार कर दी। यह सब बातें रिपोर्ट में नहीं आई हैं। इनको दबाने के लिये कौन जिम्मेदार हैं। मैं चाहता हूं कि ये सभी बातें रिपोर्ट में प्रकाशित हों ताकि लोगों को यह ज्ञात हो जाये कि उपाध्यक्ष उन लोगों की बात ही नहीं सुनते थे जिनको वह पसन्द नहीं करते थे।

यह एक बहुत ही गम्भीर बात है और इसकी ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करूंगा।

***अध्यक्ष:** जहां तक मैं समझता हूं माननीय सदस्य का यह कहना है कि गत अधिवेशन की कार्यवाही संबंधी कुछ बातें रिपोर्ट में प्रकाशित नहीं हुई है और उनकी शिकायत यह है कि यहां अधिवेशन में जो कुछ भी हुआ उसकी सही-सही रिपोर्ट प्रकाशित होनी चाहिये थी। उस समय क्या बातें हुई इससे मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूं अतः बिना पूरी तरह सारी बातों के देखें मैं इसके संबंध में अभी कुछ नहीं कह सकता। अगर माननीय सदस्य की कोई शिकायत है तो कृपया वह लिखकर मुझे दे दें ताकि मैं उसकी जांच करा सकूं।

विधान का प्रारूप—*जारी*

अनुच्छेद 86

***अध्यक्ष:** अनुच्छेद 86।

(संशोधन नं. 1632 और 1633 पेश नहीं किये गये।)

---

*इस चिह्न का अर्थ है कि यह अंग्रेजी वक्तृता का हिन्दी रूपान्तर है।

***श्री जैड.एच. लारी** (संयुक्तप्रांत : मुस्लिम): मेरा प्रस्ताव यह है श्रीमान् कि:

> ''अनुच्छेद 86 में और 'जब तक तद्विषयक प्रावधान इस प्रकार नहीं बनाया जाता, तब तक, अधिदेय ऐसी दर से और ऐसे प्रतिबंधों सहित होंगे, जैसे कि इस संविधान की प्रारम्भ तिथि से सद्य:पूर्ण भारत अधिराज्य के विधान-मंडल के सदस्यों के विषय में लागू थे' शब्दों को हटा दिया जाये और निम्नलिखित परन्तुका (proviso) जोड़ दी जाये:
>
> 'किंतु शर्त यह है कि संसद के सदस्यों को दिया जाने वाला वेतन केबिनेट मिनिस्टर को दिये जाने वाले वेतन की एक-चौथाई से कम या एक-तिहाई से ज्यादा न होगा।
>
> और शर्त यह है कि विपक्षी दल का नेता उस वेतन का अधिकारी होगा जो बिना केबिनेट दर्जा वाले किसी मंत्री को दिया जायेगा'।''

इस संशोधन के तीन हिस्से हैं किंतु तीसरा हिस्सा इसकी जान है इसलिये मैं पहले उसी को लेता हूं। इसमें विपक्षी दल के नेता के लिये वेतन का प्रावधान है। सभा यह अच्छी तरह जानती है और सभा को मैं यकीन दिला दूं कि यह बात नितांत सत्य है कि मुझमें भावी विपक्षी-नेता बनने की कोई खूबी नहीं मौजूद हैं। किंतु मैं जो इसे पेश कर रहा हूं उसके चार गम्भीर कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि मैं यह अनुभव करता हूं कि संसद में एक विपक्षी दल को प्रतिष्ठित करना निहायत जरूरी है। वस्तुत: लोकतंत्र के प्रधान स्तम्भ ही यही तीन बातें हैं। एक तो विपक्षी दल का अस्तित्व, दूसरे कानून के अनुसार शासन और तीसरे जबर्दस्त प्रेस। दूसरा कारण यह है कि मैं यह चाहता हूं कि विपक्षी दल संबंधी पद्धति को विधान में मान्यता दे दी जाये। दुर्भाग्य से कुछ क्षेत्रों में यह समझा जाता है, विपक्षी दल का निर्माण या विपक्ष द्वारा सरकार के विरुद्ध मत व्यक्त करना एक तरह से राजद्रोह है। मैं लोगों की इस गलत धारणा को दूर कर देना चाहता हूं। तीसरा कारण यह है कि मैं एक ऐसी स्थिति पैदा करना चाहता हूं जिसमें, निस्तब्ध एवं प्राण-विहीन विधान-मंडल एक सजीव सभा बन जाये और इसका अन्तिम कारण यह है कि संसदात्मक लोकतंत्र की पद्धति को, जिसे विलायत से लाकर हम भारत में प्रचलित करना चाहते हैं मैं यहां सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित देखना चाहता हूं। आपकी अनुमति से श्रीमान्, इन चार बातों पर जिनका कि अभी कारण रूप से मैंने उल्लेख किया है, मैं पूरा प्रकाश डाल देना चाहता हूं।

कई सदस्यों ने इस बात का प्रबल प्रयास किया है कि यहां अमेरिका की प्रधान-मूलक मंत्रिमंडल (Presidential Cabinet) वाली पद्धति अपनाई जाये पर सभा ने इसे अस्वीकार कर दिया। सम्मिश्रित मंत्रिमंडल की पद्धति को भी जो कि स्विटजरलैंड में प्रचलित है इस सभा ने पसन्द नहीं किया और उसने पसन्द किया दलगत-शासन की पद्धति को जो इंग्लैंड में प्रचलित है। दलगत-शासन पद्धति का अर्थ यह है कि राज्य की सारी शक्ति अधिकारारूढ़ दल के हाथ में होगी और प्रकारान्तर से इसका मतलब यह हुआ कि राज्य की सारी शक्ति पार्टी के जरिये चन्द व्यक्तियों में सन्निहित होगी। सभी जानते हैं कि शक्ति व्यक्ति को भ्रष्ट कर देती है और जहां सम्पूर्ण शक्ति ही व्यक्तियों में सन्निहित रहेगी वहां तो वे सम्पूर्ण रूप से भ्रष्ट हो जायेंगे। यह भी एक सर्वविदित तथ्य है कि जब एक दल अधिकार में आता है तो वह सदा अधिकारारूढ़ बने रहने की कोशिश करता है। एक दल विशेष का शासन सर्वथा स्वेच्छाचारी न बन जाये इसका एकमात्र रोक है विपक्षी दल

का अस्तित्व जो मंत्रिमंडल की कार्यवाहियों पर सतर्क दृष्टि रखता है और इस तरह उसे स्वेच्छाचारी हाने से रोके रहता है। इसके अलावा पार्टी गवर्नमेंट कभी ठीक-ठीक तरह काम नहीं कर सकती है जब तक कि उसके कार्यों की प्रखर आलोचना न होती रहे। लोकतंत्रात्मक पद्धति में हमेशा बहस होती है और अधिकारारूढ़ दल की नीति में सुधार किया जाता है। इसके अलावा मैं तो यह अनुभव करता हूं कि विपक्षी दल के न रहने पर अधिकारारूढ़ दल में ही फूट पड़ जाती है और उसके अन्दर गुटबन्दी चल पड़ती है। आप ज्यादा नहीं केवल गत दस वर्षों के इतिहास पर ही दृष्टिपात कीजिये। भारत में जहां भी पार्टी गवर्नमेंट रही हैं और विधान-मंडलों में कोई प्रभावशाली विपक्षी दल नहीं रहा है वहां न केवल मंत्रिमंडल के सदस्यों ने आलोचना पर आक्रोश करना ही शुरू कर दिया बल्कि दल के अन्दर विरोध भाव बढ़ता गया और इसके परिणामस्वरूप एक के बाद एक करके कई मंत्रिमंडल बने और बिगड़े। अधिकारारूढ़ दल के कामों के औचित्य पर प्रश्न किये गये हैं और उनकी ओर से जबाव भी दिये गये हैं। अधिकारारूढ़ दल पर यहां तक आक्रमण किया गया कि सरकारी रुपयों के गबन तक का आक्षेप उस पर किया गया और इसी तरह के अन्य भयानक इलजाम उस पर लगाये गये। इन सब बातों का मूल कारण यही है कि अधिकारारूढ़ दल का विरोध करने के लिये कोई प्रबल विपक्षी दल नहीं है जो उससे यह महसूस करा सके कि लोकमत का उसे मुकाबला करना पड़ेगा। आखिर लोकमत का निर्माण कौन करता है? जनता को सरकार के कामों से परिचित कौन करायेगा और उन्हें उसके कार्यों में दिलचस्पी लेने के लिये कौन प्रेरित करेगा? जब तक कि विधान-मंडल में एक प्रबल विपक्षी दल नहीं होता तो सरकार के कारनामों पर कौन रोशनी डालेगा? इन सब कारणों से एक विपक्षी दल का होना नितांत आवश्यक है। सभी जानते हैं कि वर्तमान युग में सरकार के कार्यों का दायरा बहुत विस्तृत हो गया है और जो भी दल सदा जागरूक और प्रभावी बना रहना चाहता है, उसके लिये यह जरूरी है कि विपक्षी दल के रूप में काम करने में वह अपना सारा समय लगावे। सारा समय देने वाला कोई विपक्षी दल प्रतिष्ठित नहीं हो सकता जब तक कि उसका ऐसा नेता न हो जो अपना समूचा समय, अपनी सारी शक्ति, समस्त देश में एक दायित्वपूर्ण विरोध पैदा कराने में न लगावे इसके लिये सिर्फ इतना ही काफी नहीं है कि विधान-मंडल में एक विपक्षी दल हो बल्कि उस विपक्षी दल की बुनियाद मजबूत होनी चाहिये और देशभर में, उसको समर्थन देने वाला एक प्रबल लोकमत होना चाहिये। इसलिये मैं यह महसूस करता हूं कि यहां एक ऐसा प्रबल और जागरूक विपक्षी दल जो कि विधान-मंडल में एवं उसके बाहर भी सुचारू रूप से काम कर सके, तब तक नहीं कायम हो सकता जब तक कि सारा समय देने वाला और वेतन भोगी एक नेता उसके लिये न हो जैसा कि इंग्लैंड में तथा अन्य देशों में है।

आप जानते हैं कि इंग्लैंड में जब तक अनुदार दल वाले या सम्पन्न लोग विपक्षी दल के रूप में थे, वहां विपक्षी दल के नेता को वेतन देने की जरूरत नहीं थी। पर ज्योंही मजदूर दल वालों ने विपक्षी दल का स्वरूप ग्रहण किया—और मैं साहसपूर्वक कह सकता हूं कि यहां भारत में केवल समाजवादी या कम्यूनिस्ट दल ही विपक्षी दल का स्वरूप ग्रहण कर सकता है—संसद ने विपक्षी दल के नेता के लिये एक वेतन निश्चित कर दिया है। भारत वर्ष में, जैसा कि मैं कह चुका हूं, केवल मध्यवर्ग के लोग ही विपक्षी दल का निर्माण कर सकते हैं और उस वर्ग से आप आशा नहीं कर सकते कि वह अपना एक ऐसा आदमी कुर्बान कर देगा जो बिना किसी वेतन के ही अपनी सारी

[श्री जैड.एच. लारी]

शक्ति, अपना सारा समय विपक्षी दल के संगठन में लगा सके। इसलिये मैं यह अनुभव करता हूं कि एक प्रभावी दल के निर्माण के हित में यह जरूरी है कि यथा शीघ्र अपने विधान में एक ऐसा प्रावधान लिपिबद्ध कर लें जैसा कि मैंने अभी-अभी सुझाया है।

किंतु, जैसा कि मैंने आरंभ में ही सुझाया है, गत दस वर्षों में यहां केन्द्रीय विधान-मंडल में या प्रांतीय विधान-मंडलों में कहीं भी कोई प्रभावी विपक्षी दल नहीं रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कई जिम्मेदार व्यक्तियों ने ऐसी बातें कहीं हैं जिनका मतलब यह होता है कि राज्य और अधिकारारूढ़ दल दोनों एक ही चीज हैं। इस आशय की जो बातें कहीं गई हैं वह मुझे मालूम हैं पर यहां उनको सभा के समक्ष रखकर मैं गलतफहमी नहीं पैदा करना चाहता। किंतु यही सभी जानते होंगे कि प्रधान मंत्रियों तक ने—अवश्य ही केन्द्र में नहीं किंतु प्रांतों में—ऐसी बातें कही हैं जिनसे यही आभास मिलता है कि सरकार की यानी अधिकारारूढ़ दल की आलोचना करना मानो राजद्रोह है। किंतु अगर आप मेरे संशोधन को स्वीकार कर लेते हैं तो इससे विपक्षी दल के अस्तित्व को विधान में स्वीकृति मिल जाती है और इसका नतीजा यह होगा कि आज देश में जो यह गलत ख्याल फैला हुआ है, कि सरकार की आलोचना का मतलब है उसके विरुद्ध विरोधभाव पैदा करना, वह जाता रहेगा।

इस प्रावधान को मैं जो विधान में लिपिबद्ध कराना चाहता हूं उसका एक दूसरा कारण भी है और वह यह है कि हम संसदात्मक लोकतंत्र का श्रीगणेश करने जा रहे हैं और प्रारंभ में ही हमें एक ऐसी स्थिति नहीं पैदा करनी चाहिये जिसमें एक दलीय शासन स्थायी रूप से आसीन हो जाये और वह यह समझने लगे कि वह अब सम्यक् रूप से अधिकारारूढ़ हो गया है और उसे सदा अधिकारारूढ़ बने रहना है। देश में एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन लाना आज नितांत आवश्यक है। मैं ऐसे अनेक भाषणों का हवाला दे सकता हूं जिनसे अधिकांश जनता के मन में यह ख्याल पैदा हो गया है कि राज्य और अधिकारारूढ़ दल दोनों एक ही चीज हैं और यह कि अधिकारारूढ़ दल की आलोचना का मतलब ही है राज्य की जड़ को कमजोर करना। यही कारण है कि इंग्लैंड में विपक्षी दल को भी सम्राट के नाम से याद किया जाता है और उसे ''हिज मेजेस्टीज अपोजीशन'' (His Majesty's Opposition) कहते हैं। इन शब्दों से निर्वाचकों के दिमाग में तुरन्त यह ख्याल पैदा हो जाता है कि विपक्षी दल के नेता का भी अपना एक कर्त्तव्य है और जो भी कार्य वह विपक्षी दल के नेता की हैसियत से करता है उसे अपना कर्त्तव्य समझकर ही करता है। यही ख्याल यहां देशवासियों के मन में मैं अपने इस संशोधन के द्वारा पैदा करना चाहता हूं। अगर यह संशोधन विधान में रख दिया जाता है तो इससे हर आदमी यही समझेगा कि जब खुद विधान में विपक्षी दल के नेता के अस्तित्व को मान्यता दी गई है और जब वह नेता सरकार की आलोचना करता है और देश में सर्वत्र सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करता है और अधिकारारूढ़ दल के कुकार्यों के विरुद्ध लोकमत पैदा करता है तो जनता यही समझेगी कि वह अपने विधान-बद्ध कर्त्तव्य का पालन कर रहा है।

तीसरा कारण यह है, जैसा कि मैंने बताया है कि किसी प्रभावी विपक्षी दल के अभाव में विधान-सभा बिल्कुल ही निर्जीव हो जायेगी। न केवल सभा ही निर्जीव हो जाती है बल्कि, जैसा कि कतिपय पत्रों ने कहा है, विधान-मंडल सर्वथा अधीनस्थ, दब्बू और आज्ञानुवर्ती बन जाता है। क्या इससे जनता के मन में यह धारणा न उत्पन्न होगी

कि विधान-मंडल केवल एक पाखण्ड है, यह कोई भी काम नहीं करता है, इसके सदस्य सरकार की आलोचना केवल इसलिये करते हैं कि अखबारों में उनका नाम निकले? जनता यही ख्याल करेगी कि सभी संशोधनों को सदस्य वापिस ले लेते हैं और सरकार की ओर से आये हुए प्रस्ताव बिना रंचमात्र संशोधन के ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिये जाते हैं। विधान-मंडल की कार्यवाही में दिलचस्पी नहीं रह जाती और सभा सर्वथा निर्जीव सी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि संसदीय कार्यों में जनता की कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती। और जब तक जनता उसमें दिलचस्पी न ले लोकतंत्र चल नहीं सकता। ऐसी सूरत में सवाल यह पैदा होता है कि जनता में संसदीय कार्यों के प्रति रुचि क्योंकर पैदा कराई जाये? जनता के मन में यह अनुभूति कैसे पैदा की जाये कि विधान-मंडल में जो खुलकर आलोचना होती है, वहां जो बहस-मुबाहिसा होता है, उससे उनके भाग्य के भविष्य का निर्माण हुआ करता है। ऐसी दिलचस्पी जनता के मन में कौन पैदा करेगा? आज मैं यह देखता हूं कि सभी प्रांतों में विपक्षी दल का अस्तित्व धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। यहां केन्द्र की विधान-सभा में ही हम देखते हैं कि कोई विपक्षी दल नहीं रह गया है और इसके परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि कुछ व्यक्ति कहीं-कहीं लम्बी-लम्बी बातें करने लगे हैं। न जानकारी से भरी हुई कोई आलोचना ही होती है और न कोई प्रभावशील विपक्षी दल ही यहां रह गया है।

इसलिये तीसरा कारण जो मैंने आपके सामने रखा है वह इसी विचार से रखा है कि अगर आप विधान-मंडल को एक निर्जीव सभा होने से बचाना चाहते हैं, अगर आप यह चाहते हैं कि संसदीय कार्यों से और अन्ततोगत्वा-लोकतंत्र से जनता की सारी दिलचस्पी जाती न रहे तो उसके लिये जरूरी है कि आप भी यहां वही पद्धति कायम करें जो अन्य देशों में प्रचलित है।

कदम-कदम पर आप यह कहते हैं कि आप ब्रिटिश प्रणाली ज्यादा पसन्द करते हैं। आप यहां हर बात में यही कहते हैं कि सारी खूबियां, ब्रिटिश पद्धति में—वहां की दलीय-शासन व्यवस्था में ही पाई जाती हैं। अगर यही बात है—और मैं खुद महसूस करता हूं कि आपके इस कथन में बहुत कुछ सच्चाई है—तो यह जरूरी है कि ब्रिटेन की संसदात्मक लोकतंत्र की सभी अंगभूत बातों को आप भी अपनावें ताकि यह व्यवस्था यहां असफल न हो। ज्योंही ब्रिटेन निवासियों ने यह महसूस किया कि विपक्षी दल के नेता को सरकारी खजाने से वेतन मिलना ही चाहिये जिससे कि वह दल गतिमान रहे, उन्होंने फौरन इसी तरह का एक प्रावधान स्वीकार कर लिया जैसा कि मैंने सुझाया है। इसी सिद्धांत को अभी हाल में स्वीकार किया है दक्षिण अफ्रीका ने। इन सब कारणों से मैं यह महसूस करता हूं कि मैंने जो संशोधन रखा है वह सर्वथा आपके विचारने योग्य है।

इसकी आलोचना में यहां दो बातें कहीं गई हैं। एक तो यह है कि आखिर विपक्षी दल है ही कहां और उसका नेता कहां है जिसे आप वेतन देने की बात कहते हैं? इसके उत्तर में मेरा निवेदन यह है कि आपको इसके लिये स्थिति पैदा करनी होगी। सब से खतरनाक बात यहां यह है कि हमने अपने लोकतंत्र का जो श्रीगणेश किया है वह ऐसी स्थिति में किया है जबकि देश में केवल एक ही दल का अस्तित्व रह गया है और वह दल इस बात पर बद्धपरिकर है कि दूसरे शासन में आने ही न पावे। संयुक्तप्रांत में ऐसा हो चुका है और आचार्य नरेन्द्र देव जैसे व्यक्ति को वहां व्यवस्थापिका में घुसने नहीं दिया गया। अधिकारारूढ़ दल विपक्षी दल का होना वहां जरूरी नहीं समझता। इसलिये

[श्री जैड.एच. लारी]

मैं कहता हूं कि एक विधान-निर्मातृ संस्था की हैसियत से आपका यह कर्त्तव्य है कि ऐसी स्थिति पैदा करें जिसमें कोई एक दल विपक्षी दल का रूप ग्रहण कर सके। अगर आप यह कहते हैं ''विपक्षी दल अस्तित्व में आवे भी तो, हम उस वेतन की व्यवस्था जरूर कर देंगे'' तो इसका मतलब यह हुआ कि आप विपक्षी दल का आना पसन्द ही नहीं करते इसके लिये तो आपको ऐसी स्थिति पैदा करनी होगी जिसमें जनता यह महसूस करे कि विपक्षी दल का भी एक कर्त्तव्य है और वह भी देश की सेवा के लिये ही होता है। अब तक कि यह अनुभूति जनता में नहीं पैदा की जाती है, कोई समुचित विपक्षी दल कभी अस्तित्व में आ ही नहीं सकता।

दूसरी बात जो इसके विरुद्ध कही जाती है वह यह है कि अगर दो से ज्यादा दल हुए तब क्या होगा? अगर तीन पार्टियां हुई तो उस समय क्या किया जायेगा? आप किस दल को वेतन देंगे यह एक विचित्र तर्क है। यह तो सभी जानते हैं कि संसदात्मक पद्धति में वही दल विपक्षी दल का रूप ग्रहण करता है जिसका अधिकारारूढ़ दल के बाद बहुमत होता है। अन्य और दल, अगर दो से अधिक दल हुए तो, महज पार्टी के नाम से ही संबोधित होते हैं। इसलिये मेरे संशोधन के खिलाफ जो दो बातें कही गई हैं वह सर्वथा निराधार हैं।

जैसा कि पहले कह चुका हूं, मेरा यह संशोधन अन्य सभी संशोधनों का प्राण है। किंतु इसके दो और भाग भी हैं जिनके संबंध में मैं अब कुछ कहूंगा। अनुच्छेद 86 में कहा गया है कि संसद के सदस्यों को यह वेतन प्राप्त होगा जो संसद समय-समय पर निश्चित करे। उसमें यह भी कहा गया है कि जब तक एतद्विषयक प्रावधान नहीं बन जाता है तब तक उन्हें चालू नियमों के अनुसार अधिदेय आदि दिये जायेंगे। आखिर जब हम विधान बनाने बैठे ही हैं तो ऐसे प्रावधानों से उसे क्यों बोझिल बनावें? क्या संसद के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह अपना अधिवेशन प्रारम्भ करते ही वेतन संबंधी बिल पास कर दें? तब 1936 में उत्तरदायी विधान-मंडलों की स्थापना हुई तो इस बारे में कानून बनाने में आखिर क्या कठिनाई हुई थी? जब यह विधान-परिषद् ही अपने अस्तित्व में आई तो हमें अपने वेतनादि को निश्चित करने में भला क्या कठिनाई हुई थी?

दूसरी बात यह है कि बहुतेरे नये विधानों में वेतन की व्यवस्था विधान में ही लिपिबद्ध कर दी गई है। यह वांछनीय नहीं है कि हम इस बात को संसद पर छोड़ दें कि वह समय-समय पर वेतन निश्चित कर लिया करे। किंतु अगर आप इसे संसद पर ही छोड़ने जा रहे हैं तो आप यह तो तय ही कर दें कि सदस्यों एवं सचिवों के वेतन का अनुपात क्या रहेगा। हम यह क्यों कह रहे हैं? इसके दो कारण हैं। दुर्भाग्य से हमारे देश में विभिन्न वर्गों के बीच बड़ा ही आर्थिक वैषम्य है। एक तरफ आपको एक ऐसा वर्ग भी मिलेगा जिसके पास करोड़ों रुपये हैं और दूसरी ओर ऐसे अकिंचन भी मिलेंगे जिनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं है। विधान-मंडल के सदस्यों एवं सचिवों के वेतन में यह वैषम्य न रहना चाहिये। मैं यह नहीं चाहता कि सदस्यों और सचिवों के वेतन में कोई बड़ा अन्तर हो और सदस्यों को यह महसूस हो कि उन्हें और वेतन पाने के लिये मंत्रियों को सदा खुश रखना पड़ेगा। सदस्य एवं मंत्रियों के वेतन में कुछ साम्य रखने का एक और भी कारण है। जब आप एक बार यह निश्चय कर लेते हैं कि संसद के सदस्यों और मंत्रियों के

वेतन का अमुक अनुपात रहेगा तो मंत्रियों का वेतन तय करने में आपको सदा इसके लिये सतर्क रहना पड़ेगा कि सरकारी खजाने पर कही ज्यादा भार न पड़ जाये। अत: हमारे इस प्रावधान से दो मतलब हल होते हैं। एक तो यह कि सदस्यों एवं मंत्रियों के वेतन में, इसके कारण, बड़ा अन्तर न रहने पायेगा। इसमें शक नहीं कि मंत्रिगण 12 महीने काम करते हैं और संसद के सदस्य केवल चार या पांच महीने ही काम करते हैं। अगर आप इस दृष्टिकोण को सामने रखते हैं तो उस हालत में भी मैंने जो संशोधन रखा है उसके अनुसार सदस्यों एवं सचिवों (मंत्रियों) के वेतन का अनुपात प्राय: बराबर ही रहता है। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में एक निश्चित अनुपात के आधार पर ही सदस्यों और मंत्रियों को वेतन दिया जाता है। अत: मैं जो कहना चाहता हूं वह यही है कि सदस्यों एवं मंत्रियों के वेतन में कुछ साम्य होना ही चाहिये जिससे सदस्यों के मन में, किसी भी प्रकार से लाघव-भावना न विकसित होने पावे। पहले के दो संशोधन बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं, भले ही आप उन्हें स्वीकार करें या अस्वीकार करें। किंतु तीसरे में एक बहुत ही महत्त्व का प्रश्न उठाया गया है। आशा है सभा, चाहे पार्टी का निर्णय कुछ भी क्यों न हों, उन कारणों का जिन्हें मैंने सभा के समक्ष अभी रखा है, ख्याल करेगी और इस बात पर विचार करेगी कि विपक्षी दल को विधान द्वारा मान्यता देने का जो सिद्धांत है वह कहां तक वांछनीय है। यह कह देना कि हम इस सिद्धांत को स्वीकार करते हैं और जब संसद बनेगी तो वह सदस्यों के वेतन को निश्चित कर लेगी, बहुत आसान है। पर सवाल यह कि जब सैकड़ों पृष्ठों और अनुच्छेदों का एक बृहत्काय विधान बना रहे हैं, जब आप हर बात को विधान में ही लिपिबद्ध कर रहे हैं और मामूली बात को आगे के लिये नहीं छोड़ रहे हैं तो आप इस प्रावधान को ही आगे के लिये क्यों छोड़ रहे हैं? इसको भी विधान में क्यों नहीं लिपिबद्ध कर देते? लोकतंत्र के हित को देखते हुए, और इस बात को देखते हुए कि देश में पार्टी हुकूमत सुचारू रूप से चल सके, यह प्रावधान वस्तुत: बड़े ही महत्त्व का है। भारत वर्ष में गत कई शताब्दियों तक निरंकुशतंत्र रहा है। हम लोकतंत्र का अपने यहां श्रीगणेश करने जा रहे हैं। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि हम ऐसी स्थिति पैदा करें जिसमें हमारा लोकतंत्र असफल न होने पावे। हमें इसके लिये कार्यवाही करनी चाहिये कि हमारे लोकतंत्र की सफलता सुनिश्चित हो और इसके लिये सबसे जरूरी चीज यह है कि हम इस बात को सुनिश्चित बना दें कि वर्तमान विधान के प्रयोग में आने पर जब नया विधान-मंडल समवेत हो तो वहां एक विपक्षी दल अवश्य ही मौजूद रहे ताकि हमारा दलीय शासन सफलतापूर्वक चल सके।

(संशोधन नं. 1635 पेश नहीं किया गया।)

***माननीय श्री के. सन्तानम्** (मद्रास : जनरल): मैं यह प्रस्ताव उपस्थित करता हूं श्रीमान् कि:

> ''अनुच्छेद 86 में, 'भारत अधिराज्य के विधान-मंडल के' शब्दों की जगह 'विधान-परिषद्' शब्द रखे जायें।''

जो शब्द अभी वहां हैं, श्रीमान्, वे अनुपयुक्त हैं। आज ऐसी कोई सभा अस्तित्व में नहीं है जिसे हम भारत अधिराज्य का विधान-मंडल कह सकें। उपायोजित भारत-शासन-अधिनियम के अनुसार तथा पार्लियामेंट एक्ट के अनुसार भी यह विधान-परिषद् ही, कतिपय प्रयोजनों के लिये, भारत-अधिराज्य के विधान-मंडल के रूप में काम करती है। विधान-परिषद् ही

[माननीय श्री के. सन्तानम्]

एकमात्र विधान-मंडल है। जिसका आज अस्तित्व है और भारतीय संसद के सदस्य भी अपना उत्तराधिकार इसी विधान-परिषद् से प्राप्त करना पसन्द करेंगे बजाय इसके कि वे किसी ऐसे विधान-मंडल से प्राप्त करें जिसका कि कोई अस्तित्व ही न हो। हां किसी समय यह बात जरूरी थी कि जब यह सभा विधान निर्मातृ के रूप में बैठती थी तो उसके सदस्यों को कुछ और ही अधिदेय दिया जाता था और जब वह विधान-मंडल के रूप में समवेत होती थी तो इसके सदस्यों को कुछ दूसरा अधिदेय दिया जाता था। किंतु अब यह बात नहीं रह गई और इसके सदस्यों को समान अधिदेय ही दिया जाता है। इसलिये अब किसी तरह की कोई भी व्यावहारिक कठिनाई नहीं रह गई है। इन शब्दों के साथ मैं सभा से इस संशोधन को स्वीकार करने की सिफारिश करता हूं।

***श्री एल. कृष्णास्वामी भारती** (मद्रास : जनरल): श्री सन्तानम् का जो संशोधन है श्रीमान्, उसमें होना चाहिये ''भारत की विधान-परिषद्'' न कि केवल ''विधान-परिषद्'' जो वहां रखा गया है।

***माननीय श्री के. सन्तानम्:** इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

***अध्यक्ष:** संशोधन नं. 1637 वैसा ही है जैसा कि नं. 1636। अब सभी संशोधन उपस्थित किये जा चुके हैं अब मूल प्रस्ताव पर तथा संशोधनों पर बहस की जा सकती है।

***श्री टी.टी. कृष्णमाचारी** (मद्रास : जनरल): अध्यक्ष महोदय, श्री लारी के संशोधन पर चन्द शब्द कहने के लिये ही मैं खड़ा हो रहा हूं। संसद के सदस्यों के वेतन का विधान में कोई उल्लेख न होने की जो उनकी शिकायत है तथा उनका यह जो सुझाव है कि विपक्षी दल के नेता को एक वेतन मिलना चाहिये—यह दोनों ही बातें सार पूर्ण हैं और हमें इस पर अवश्य विचार करना चाहिये। किन्तु जब तक कि संसद के सदस्यों एवं विपक्षी पक्ष के नेता, वेतन पर विधान में कोई रोक न हो इन सब विस्तार की बातों को विधान में लिपिबद्ध करना मैं जरूरी नहीं समझता।

बहस में ऐसी बातों को लाकर जिनका सद्य: संबंध केवल उन्हीं से है—मेरा मतलब यह है कि संयुक्त प्रांतीय राजनीति से—श्री लारी ने, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस अवसर का प्रयोग केवल अपने चिर अभ्यस्त राग को अलापने के लिये ही यहां किया है। हम यहां विधान के मसौदे पर विचार कर रहे हैं और मुझे आश्चर्य होता है कि इस सिलसिले में, श्री लारी के सुझाव को विधान में लिपिबद्ध करके एक विपक्षी पक्ष के निर्माण के लिये हम कोई उपाय निकालें यह हमारे लिये कैसे सम्भव है। किसी विपक्षी दल के अधिकारारूढ़ होने पर विधान में कोई रोक तो लगाई नहीं जा रही है। आज एक अरसे से श्रीमान्, सन् 1937 से ही जब से कि प्रांतों में सन् 1935 के एक्ट प्रवर्तन में आया, ऐसे लोगों की ओर से जिन्हें दुर्भाग्यवश मंत्रि-मंडल में आने की या अधिकारारूढ़ की कोई भी सम्भावना नहीं है मैं यह रोना सुनता आ रहा हूं कि कहीं भी कोई विरोधी पक्ष नहीं है, कांग्रेस दल यथाशक्ति यह चेष्टा करता है कहीं विपक्षी दल बनने न पावे और यह कि जहां कहीं विपक्षी दल है भी वह अपना काम नहीं करता है। मुझे तो आश्चर्य होता है कि कांग्रेस हो या अन्य कोई भी दल हो जो आगे चलकर इसका स्थान लेगा, वह कैसे विपक्षी दल का निर्माण कर सकता है? विपक्षी दल के सदस्यों को या उसके नेता

को वेतन देने से आखिर कैसे विपक्षी दल का निर्माण हो जायेगा। क्या आपका मतलब यह है कि विधान में एक ऐसा प्रावधान रख दिया जाये जिसके अनुसार, विपक्षी दल के निर्माण हेतु, एक रकम बजट में रखी जा सके? जो लोग यहां वर्तमान शासन-प्रणाली से असन्तुष्ट हैं उनसे मैं यह निवेदन करूंगा कि ठीक-ठीक यह बतावें कि वे चाहते क्या हैं? क्या वे यह चाहते हैं कि विपक्षी दल के निर्माण के लिये केन्द्रीय बजट में एक रकम खासतौर पर रख दी जाये? इस सभा में, जो कि व्यावहारिक ढंग पर सुचारू रूप से अपना काम कर रही है, इस तरह का रुदन शुरू करना एक तरह से सभा में विषयांतर उपस्थित करना है। माननीय मित्र श्री लारी ने सम्भवत: इसीलिये यह विषयांतर यहां उपस्थित किया है कि समाचार-पत्रों के पाठक यहां की कार्यवाही को बिल्कुल निर्जीव न समझें। यहां तक तो मानना पड़ेगा कि उन्होंने एक खिदमत ही की है किन्तु मेरा ख्याल है कि किसी न किसी को यह कहना ही होगा कि उनकी इस शिकायत के लिये यह न कोई उपयुक्त मौका ही और न उपयुक्त स्थान ही है। उनकी यह शिकायत कि कोई विपक्षी पक्ष नहीं है सही है पर इसके लिये अधिकारारूढ़ दल क्या कर सकता है? मैं नहीं समझता कि विधान में विपक्षी दल का उल्लेख करने से क्या लाभ है क्योंकि श्री लारी का संशोधन स्वीकृत हो जाने से ही तो विपक्षी दल का निर्माण न हो सकेगा। अच्छा मान लीजिये कि लारी साहब का संशोधन स्वीकार हो जाता है—जोकि मैं इसे सर्वथा अस्वीकार्य समझता हूं—तो क्या इससे विपक्षी दल की सृष्टि हो जायेगी? क्या वेतनभोगी होने से ही विपक्षी नेता किसी पार्टी का संगठन कर सकेगा? मान लिया कि विपक्षी नेता को वही वेतन और अधिदेय दिये जाते हैं जो कि प्रधान मंत्री को प्राप्त हैं तो इससे क्या वह एक दल संगठित करने में सफल हो जायेगा? मैं समझता हूं कि श्री लारी के लच्छेदार तर्क सभा को भ्रम में डाल देंगे और वह यही विश्वास कर बैठेगी कि वर्तमान स्थिति में किसी न किसी बात की कमी जरूर है और श्री लारी के संशोधन के स्वीकृत होने से वह स्थिति अवश्य पैदा हो जायेगी जिसका आज सर्वथा अभाव है क्योंकि श्री लारी का संशोधन ऐसा है कि साधारणत: विधान में उसे कभी स्थान नहीं मिल सकता है।

माननीय सदस्य ने इन संबंध में ब्रिटिश प्रणाली का और वहां की लोक सभा के विपक्षी पक्ष का भी उल्लेख किया है। अवश्य ही मैंने भी इस बात को गौर से अध्ययन किया है कि ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्यों के वेतन का क्रमश: क्या इतिहास रहा है और वहां विपक्षी दल के नेता को जो दर्जा दिया गया है और उसको वेतन दिया जाता है उसका क्रमश: किस तरह विकास हुआ है। कई शताब्दियों के बाद यह रूढ़ियां वहां विकसित हो पाई हैं। मैं नहीं समझता कि भावी भारतीय संसद अगर विपक्षी पक्ष के नेता को वेतन देना ही वांछनीय या बुद्धिसंगत समझे तो उसे आखिर ऐसा करने में रुकावट क्या हो सकती है? मैं तो इस बात की कोई आवश्यकता नहीं देखता कि इस तरह का प्रावधान विधान में और इस अनुच्छेद के प्रसंग में जो केवल अनुमति मूलक एक अनुच्छेद है, रखा जाये। यह अनुच्छेद तो संसद को यह अनुमति देने के लिये है कि वह सदस्यों के वेतन एवं अधिदेय के बारे में भविष्य में कानून बना सकती है और उस अन्तर्वर्त्ती काल के लिये जब तक कि संसद बैठे और कानून बनाये, सदस्यों की वर्तमान स्थिति, इस अनुच्छेद के अनुसार पूर्ववत् रहेगी।

उनकी स्थिति पूर्ववत बनाये रखने के बारे में जो प्रावधान है, उस पर भी आपको आपत्ति है। मैं नहीं समझता कि इस समुचित प्रावधान पर उन्हें क्या आपत्ति हो सकती है?

[श्री टी.टी. कृष्णमाचारी]

आखिर भावी संसद को प्रारम्भिक काल से इतने काम अधिक रहेंगे कि उनके महत्त्व को देखते हुए सदस्यों के वेतन अधिदेय आदि के प्रश्न बिल्कुल नगण्य से होंगे। मैं तो यह चाहूंगा कि श्री अनन्तशयनम् आयंगर को अपना वह संशोधन पेश करने दिया जाये जिसमें प्रधान को यह अधिकार दिया गया है कि जब तक संसद ऐसा कानून न बना ले जिसके अनुसार कि वर्तमान स्थिति या वह स्थिति जो उपायोजित भारत-शासन-अधिनियम में रखी गई है पूर्ववत बनी रहे, अगर आवश्यक हो तो वह उनके वेतन और अधिदेय को कम बेशी कर सकता है। श्रीमान्, श्री लारी का यह अभियोग कि वर्तमान स्थिति को चालू रखने के लिये जो प्रावधान रखा गया है वह गलत है, सर्वथा निराधार है क्योंकि भावी संसद के लिये यह सम्भव न होगा कि वह समवेत होते ही छोटे-बड़े जो सैकड़ों मसले हैं उनको निपटा दे। समवेत होने के सम्भवतः दो-तीन वर्ष बाद कहीं संसद इस स्थिति में आयेगी कि वह श्री लारी के सुझावों पर कोई कार्रवाई कर सकें। मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि हमारी भावी संसद और वे लोग जिनके हाथ में देश का भाग्य रहेगा, जरूर ही श्री लारी के इन सुझावों को ध्यान में रखेंगे जो उन्होंने विपक्षी दल के नेता के वेतन के संबंध में दिये हैं, अगर उनसे एक विरोधी पक्ष का—एक रचनात्मक विरोधी पक्ष का सृजन होता हो। अवश्य ही एक विरोधी पक्ष होना ही चाहिये किन्तु जैसा प्रावधान कि श्री लारी सुझा रहे हैं उसे विधान में स्थान देना मेरे ख्याल से गलत होगा। अपने संशोधन के पक्ष में आपने जो तर्क उपस्थित किये हैं वह अप्रासंगिक तो हैं ही और साथ ही यह भी है कि इस सभा का उनसे कोई संबंध नहीं है और न सभा के लिये वह बोधगम्य ही है। मैं श्री लारी के संशोधन का विरोध करता हूं श्रीमान्, और श्री संतानम् के संशोधन का तथा तदनुसार संशोधित अनुच्छेद का मैं समर्थन करता हूं।

***श्री एम. अनन्तशयनम् आयंगर** (मद्रास : जनरल): अध्यक्ष महोदय, श्री लारी ने जो संशोधन उपस्थित किया है मैं उसका विरोध करता हूं और इस कारण से नहीं कि मैं किसी रचनात्मक विरोध के विरुद्ध हूं। यह अनुच्छेद अपने वर्तमान स्वरूप में यथेष्ट व्यापक है और इसके अनुसार संसद के सदस्यों के वेतनादि का प्रावधान किया जा सकता है और वस्तुतः इन बातों का इसमें प्रावधान कर दिया गया है और यह भी नहीं इसमें कहा गया है कि सभी सदस्यों के वेतन एक-समान होंगे। अगर कोई रचनात्मक विरोधी पक्ष है और उसका कोई नेता है तो, इस अनुच्छेद के अनुसार भावी संसद, इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, उसके लिये खास वेतन का या ऐसे वेतन का जो अन्य सदस्यों से अधिक हो, प्रावधान कर सकती है। जैसा कि मैं कह चुका हूं यह अनुच्छेद बहुत व्यापक है। दुनिया के किसी देश में कहीं भी कोई विधान ऐसा नहीं है जिसमें विपक्षी दल के नेता के वेतन के लिये कोई प्रावधान लिपिबद्ध किया गया हो। नियम एवं उपनियम तो संसद ही बनाती है और संसद पर यह रुकावट कहीं नहीं आती है कि वह विपक्षी दल के नेता के वेतन के बारे में कानून नहीं बना सकती। श्री लारी ने जो संशोधन रखा है उसे जरा गौर से पढ़िये, वह इस प्रकार है:

''किन्तु शर्त यह है कि संसद के सदस्यों को दिये जाने वाले वेतन केबिनेट मिनिस्टर को दिये जाने वाले वेतन की एक चौथाई से कम ओर एक तिहाई से ज्याादा न होगा।'' अपने सदस्यों का जो मूल्यांकन किया है उसके अनुसार मंत्री-मंडल का एक सदस्य संसद के तीन या चार सदस्यों के बराबर होगा और संसद के सदस्यों को इससे सदा यह रचनात्मक

प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी कि वे अपने अधिदेय को बढ़ाने के लिये सदा आन्दोलन करते रहेंगे ताकि मंत्रियों का अधिदेय भी बढ़ता चला जाये। अगर सदस्यों का अधिदेय मंत्रियों के अधिदेय के एक चौथाई से ज्यादा नहीं होगा और उस सदस्य को मिलेगा पांच सौ तो मंत्री को मिलेगा दो हजार और अगर सदस्य ने दावा किया एक हजार का तो मंत्री अधिकारी हो जायेगा चार हजार पाने का। मैं नहीं समझता कि क्यों एक चौथाई से कम या एक तिहाई से ज्यादा सदस्य को न दिया जाये। आप इसको इतना तंग या कठोर रूप क्यों दे रहे हैं? आप यह कहिये कि एक चौथाई या एक तिहाई या आधा दिया जायेगा पर एक कठोर अनुपात निश्चित करने का तो कोई मतलब नहीं है। मैं नहीं समझता कि सदस्यों एवं मंत्रियों के वेतन को एक निश्चित अनुपात के आधार पर ही क्यों निश्चित किया जाये।

उनके संशोधन में यह और कहा गया है कि:–''और शर्त यह है कि विपक्षी दल का नेता उस वेतन का अधिकारी होगा जो बिना केबिनेट दर्जा वाले किसी मंत्री को दिया जायेगा''। अगर सरकार यह सिफारिश कर बैठती है, केबिनेट दर्जा वाले मिनिस्टरों का पद हटा दिया जाये तो उस सूरत में मित्रवर श्री लारी का संशोधन बिल्कुल व्यर्थ हो जाता है। ज्यों ही हमारे मंत्री बिना केबिनेट दर्जा वाले बना दिये जाते हैं, श्री लारी के सुझाव को अमल में लाने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती क्योंकि उनके संशोधन की वाक्य रचना ही ऐसी है कि उस हालत में वह लागू नहीं हो सकता। आप असलियत को क्यों नहीं देखते? 15 अगस्त सन् 1947 से यही सभा विधान-मंडल के रूप में भी काम कर रही है पर इन दो वर्षों के बीच आपने यहां कभी कोई रचनात्मक विरोध की बात देखी हैं? हां, जब हैदराबाद के संबंध में वाद-विवाद हो रहा था उस समय यहां कुछ सजीव विरोध मुझे देखने को मिला था। अन्य और किसी भी मौके पर कभी वास्तविक विरोध देखने को ही नहीं मिला। आखिर विरोधी पक्ष की क्या नीति है, उसका क्या कार्यक्रम है? साम्प्रदायिक मसलों को लेकर यहां विपक्षी दल रहा है पर क्या आप उस परम्परा को स्थायी बनाये रखना चाहते हैं? यहां कोई ऐसा वर्ग है जो सरकार के जबर्दस्त खिलाफ है और चाहता है कि हमारा राज्य सर्वथा समाजवादी बन जाये और अभी बन जाये तो यह बात तो मेरी समझ में आ सकती है। पर आपके सामने अभी नीति के प्रोग्राम की कोई बात तो है नहीं। फिर क्या आप उस आयरलैंडवासी के पथ का अनुकरण करना चाहते हैं जिसने अपना जहाज डूब जाने पर विपक्षी बनने की बात कही थी? किसी आयरिश का जहाज डूब गया और वह किसी टापू के किनारे जा लगा। उसने जो पहला सवाल वहां लोगों से किया वह था—''क्या यहां कोई हुकूमत भी है?'' किसी के हां में उत्तर देते ही वह फौरन बोल उठा—''तो मैं उसके विपक्षी दल का सदस्य हूं''। लारी साहब एक विपक्षी दल का निर्माण करना चाहते हैं पर मैं उनसे यह पूछना चाहता हूं कि कोई विपक्षी दल है भी और अगर है तो वह रचनात्मक है या साम्प्रदायिक? इससे तो मैं सहमत हूं कि विरोधी पक्ष होना ही चाहिये। पर वे तो शायद साम्प्रदायिक आधार पर एक विपक्षी दल का निर्माण चाहते हैं। पर क्या ऐसी कोई साम्प्रदायिक पार्टी है जो विपक्षी दल का रूप ग्रहण कर सके? क्या आप साम्प्रदायिक तनातनी को बढ़ावा देना चाहते हैं और साम्प्रदायिक झगड़ों को जो लोग खड़ा किया करते हैं उनसे यह कहना चाहते हैं—''तुम अपना काम करते चले जाओ उलटा जिस तरह भी हो उसे अग्रसर करते रहो और मैं तुम्हें उसके लिये वेतन दूंगा पारिश्रमिक?'' मुझ आश्चर्य हो रहा है कि रचनात्मक विरोध के जो साहब आज यहां इतना हामी बन रहे है उन्हें रचनात्मक विरोध कायम करने का यथेष्ट अवसर मिला था और उन्होंने क्यों नहीं उस दिशा में कोई प्रयास पहले किया?

[श्री एम. अनन्तशयनम् आयंगर]

मैं यह जानना चाहता हूं कि आखिर उनकी नीति क्या है, उनका प्रोग्राम क्या है? आखिर देश का हित ही तो वे चाहते हैं? फिर मैं उनसे पूछता हूं कि कांग्रेस पार्टी के कार्यक्रम से देश का जो हित होगा उससे अधिक हित क्या देश को इनके कार्यों से पहुंच सकेगा? इसलिये मैं समझता हूं कि विधान में विपक्षी दल का उल्लेख करना अनावश्यक है। आप इस बात को संसद पर छोड़ सकते हैं। अगर देश में कोई रचनात्मक विपक्षी दल प्रादुर्भूत होता है और उसका नेता वेतन संबंधी प्रावधान के अभाव से अपना सारा समय और अपनी सारी शक्ति नहीं लगा सकता है जो जनहित के लिये, अपने लोकतंत्र के हित के लिये, संसदात्मक शासन व्यवस्था के लिये और शासन संबंधी दोषों को जनता के सामने लाने के लिये जरूरी है तो मैं कहूंगा कि इसकी व्यवस्था करने के लिये हमारे पास अभी पर्याप्त समय है। अनुच्छेद का जो स्वरूप है उससे ऐसा प्रावधान करने में कोई रुकावट नहीं पड़ती है। किंतु अभी से कुछ सदस्यों को इसके प्रलोभन या उलझाव में डाल देना समुचित नहीं है। हो सकता है चार या पांच सदस्य आपस में मिल जायें और यह मांग करने लगे कि हम विपक्षी दल के रूप में सभा में योगदान करेंगे। हमारे नेता को चार हजार का वेतन मिलना चाहिये और उस रकम को वे आपस में बांट लें। अगर एक रचनात्मक विपक्षी दल विकास पाता है तो उसके लिये अवश्य प्रावधान किया जायेगा। किन्तु जब तक कि कोई रचनात्मक विरोधी पक्ष विकसित नहीं होता है, विधान में विपक्षी नेता के वेतन का प्रावधान रखकर सदस्यों के मन में प्रलोभन पैदा करना ठीक नहीं है। श्री लारी के संशोधन का विरोध मैं, उसके स्वरूप एवं सार दोनों ही बातों के ख्याल से करता हूं। उसका स्वरूप अव्यावहारिक है और सार की बात उसमें यों नहीं है कि अभी हमारे सामने कोई विरोधी पक्ष है ही नहीं। और हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि जिस तरह भी हो एक विरोधी पक्ष कायम ही हो जाये।

माननीय मित्र श्री कृष्णमाचारी ने अभी कहा है कि वह हमारे संशोधन को पसंद करते हैं। मैं संशोधन द्वारा यही कहना चाहता था कि अन्तर्वर्त्ती काल में वेतनादि के प्रश्न को प्रधान ही स्वत: निश्चित कर दे क्योंकि भारत-शासन-अधिनियम में भी एक इसी आशय का प्रावधान वर्तमान है जिसमें गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया है कि जब तक संसद द्वारा वेतनादि के संबंध में कोई प्रावधान न बन जाये, वह स्वयं अधिदेय संबंधी नियमों में परिवर्तन कर सकता है। श्री सन्तानम् का ख्याल है कि प्रधान को ऐसा अधिकार देना ठीक नहीं है। मैं भी इससे सहमत हूं कि प्रधान को विधान-मंडल के निर्णय को नहीं काटना चाहिये। किन्तु मैं समझता हूं कि जहां तक अधिदेय का प्रश्न है संसद पर ऐसी कोई रोक तो है नहीं कि उसके संबंध में अगर कोई त्रुटि है तो वह उसे दूर करने के लिये कोई कानून नहीं बना सकती। इसलिये इस तरह की कोई असाधारण शक्ति हमें प्रधान को नहीं देनी चाहिये—अत: जानबूझकर मैंने अपना संशोधन पेश नहीं किया।

मि. तजम्मुल हुसैन (बिहार : मुस्लिम): अध्यक्ष महोदय, अनुच्छेद 86 में यह कहा गया है कि संसद के सदस्यों को वह वेतन दिया जायेगा जो संसद तय करे और जब तक कि संसद इस संबंध में कोई निश्चय नहीं कर देती तब तक उनको वह रकम दी जाये जो कि विधान-मंडल या विधानसभा के सदस्यों को फिलहाल दिया जाता है। माननीय मित्र श्री लारी ने इस संबंध में इस आशय का एक संशोधन रखा है कि: (1) केबिनेट दर्जा वाले मिनिस्टरों को जो वेतन दिया जाये उसका एक-चौथाई संसद के सदस्यों को

मिलना चाहिये। अर्थात् आपके हिसाब से हर सदस्य को वेतन के रूप में उस रकम की एक-चौथाई मिलनी चाहिये जो केबिनेट दर्जा वाले मिनिस्टरों को मिलती है। (2) विपक्षी दल का एक नेता होना चाहिये और उसे वही वेतन दिया जाना चाहिये जो एक स्टेट मिनिस्टर को यानी बिना केबिनेट दर्जा वाले मिनिस्टर को दिया जाता है। माननीय मित्र लारी के भाषण को और उनसे पहले के अन्य दो भाषणों को मैंने बड़े ध्यान से सुना है। श्री लारी का यह तर्क कि वेतन निश्चित हो जाना चाहिये बिल्कुल सही दिखाई देता है। विरोधी पक्ष का एक नेता होना ही चाहिये। श्री अनन्तशयनम् आयंगर की दलील यह है कि इस समय विरोधी पक्ष के नेता के लिये प्रावधान न होना चाहिये क्योंकि वर्तमान दल साम्प्रदायिक आधार पर बने हैं। किन्तु भविष्य में तो साम्प्रदायिक गुट होंगे नहीं क्योंकि स्थानों के संरक्षण की हम व्यवस्था नहीं करने जा रहे हैं और अगर उसकी व्यवस्था भी की गई तो वह पृथक् निर्वाचन के आधार पर नहीं की जायेगी। हर आदमी यह महसूस करता है कि विरोधी पक्ष का एक नेता होना ही चाहिये।

दूसरी ओर श्री लारी के संशोधन में एक त्रुटि है और वह यह है। जहां कहीं भी लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के आधार पर संसदें हैं वहां विरोधी पक्ष के नेता भी होते हैं और संसद के सभी सदस्यों को वेतन दिया जाता है। किन्तु उनके वेतन का निश्चय खुद विधान नहीं करता है। हर देश में संसद ही, विरोधी पक्ष के नेता एवं संसद के सदस्यों का वेतन निश्चित करती है। दक्षिण अफ्रीका में देखिये या कनाडा में, आस्ट्रेलिया अथवा न्यूजीलैंड जहां भी देखिये हर जगह संसद ही यह सब निश्चित करती है। जब हर जगह संसद ही पर यह छोड़ा गया है तो हमीं क्यों विधान में इसका उल्लेख करके एक नई बात पैदा करें? आखिर विधान में इन सब विस्तार की बातों का उल्लेख करने की क्या आवश्यकता है? विधान में हमें केवल सिद्धांत ही रखना चाहिये और इस आशय का अनुच्छेद विधान में आ ही गया है कि सदस्यों को वेतन दिया जायेगा। वेतन के रूप में क्या रकम दी जायेगी इसका फैसला संसद करेगी न कि यह सभा। इस कारण से मैं इस संशोधन से सहमत नहीं हूं। मैं एक मौखिक संशोधन रखना चाहता हूं श्रीमान् और उस संशोधन से माननीय मित्र लारी का काम आसान हो जायेगा और सारी कठिनाइयां दूर हो जायेंगी। मेरा सुझाव यह है कि बजाय इसके कि सदस्यों का वेतन मिनिस्टरों के वेतन का एक-चौथाई रखा जाये, सदस्यों और मिनिस्टरों दोनों को समान वेतन दिया जाये। उस सूरत में मेरा ख्याल है सभी खुश हो जायेंगे।

इन शब्दों के साथ मैं संशोधन का विरोध करता हूं।

***श्री विश्वनाथ दास** (उड़ीसा : जनरल): मेरा विश्वास तो यह है श्रीमान्, कि माननीय मित्र लारी ने जो संशोधन रखा है वह देश के लिये अनुचित है और वह एक दुर्भाग्यपूर्ण संशोधन है।

विधान के अनुच्छेद 86 के प्रावधान पर ही पहले मैं विचार करूंगा। इसमें कहा गया कि संसद के सदस्य वह वेतन और अधिदेय पाने के अधिकारी होंगे जिन्हें संसद विधि द्वारा निश्चित करे और जब तक तद्विषयक प्रावधान नहीं बन जाते। तब तक उन्हें वही अधिदेय और वेतन प्राप्त होंगे जो इस संविधान की प्रारम्भ तिथि से पहले उन्हे मिलते थे।

[श्री विश्वनाथ दास]

अगर मिस्टर लारी को इसके लिये इस तरह आन्दोलन ही करना था तो उनके लिये उचित मार्ग तो यह था कि चुनाव के बाद जब विधान की शर्तों के अनुसार संसद में कोई विधि प्रस्तावित होती तो वह संसद के समक्ष अपनी यह बातें पेश करते।

विधान में, श्रीमान्, वेतन एवं अधिदेय का प्रावधान किया गया है। पर जहां तक मेरा निजी संबंध है मैं इसमें विश्वास नहीं करता और न संसदात्मक गणतंत्र के उन हिमायतियों से मेरा मतैक्य ही है जो यह कहते हैं कि संसद के सदस्य उस काम के लिये जो कि वह अपने निर्वाचन क्षेत्र में या यहां सभा भवन में करते हैं, उन्हें वेतन मिलना ही चाहिये। मेरा विश्वास तो यह है बिना वेतन उन्हें अधिदेय दिया जाये यही वांछनीय मार्ग है। किन्तु हमें इस सभा के माननीय सदस्यों की सम्मिलित बुद्धिमत्ता के आगे सर झुकाना ही चाहिये और इसीलिये हम इस बात पर सहमत हो गये हैं कि वेतन तथा अधिदेय की दर संसद आगे चलकर, विधि द्वारा निश्चित करेगी। ऐसी स्थिति में, जहां तक कि मेरा निजी संबंध है, मैं खुद और मेरी विचारधारा के कतिपय मित्र यह महसूस करते हैं कि वेतन का सवाल उठना ही नहीं चाहिये पर हम लोगों का सदस्यों की सम्मिलित बुद्धिमत्ता के सामने नतमस्तक होना ही पड़ता है। पर यह बात कहने की तो किसी को इच्छा ही नहीं हो सकती कि जिस संसदात्मक लोकतंत्र की हम अपने देश में स्थापना करने जा रहे हैं उसे विधान में विरोधी पक्ष की मान्यता को स्वीकार करना चाहिये—स्वीकार ही नहीं, बल्कि विधान में इस बात का भी प्रावधान हो जाना चाहिये कि विरोधी पक्ष के नेता को अमुक हिसाब से वेतन दिया जायेगा। माननीय मित्र लारी से यह कहूंगा कि दुनिया के किसी भी प्रवर्तमान विधान की वह नजीर तो मुझे पेश करें जिसमें विरोधी पक्ष के नेता के लिये किसी एक निश्चित वेतन का प्रावधान किया गया हो। यह सच है कि ब्रिटिश पार्लियामेंट विरोधी पक्ष के नेता को एक निश्चित वेतन अवश्य दिया जाता है और उसका वही दर्जा होता है जो वहां के मिनिस्टर का है। पर विधान में इसके लिये एक खास प्रावधान रखने से इस बात का क्या संबंध है? संसदात्मक लोकतंत्र में दो दलों का होना जरूरी होता है श्रीमान्, एक तो बहुमत वाला दल होता है जो अधिकारारूढ़ रहता है और दूसरा अल्पमत प्राप्त दल जो विरोधी पक्ष के रूप में काम करता है जिससे शासन का काम समुचित रूप से चले। इसलिये विरोधी पक्ष एक अनिवार्य और आवश्यक बुराई है। संसदात्मक गणतंत्र को सुचारू रूप से चलाने के लिये विरोधी पक्ष का होना आवश्यक है भले ही वह एक बुराई हो। किन्तु यह तो कोई औचित्य नहीं है कि इसके लिये विधान में हम एक ऐसा खास प्रावधान रखें जैसा कि संशोधन द्वारा सुझाया गया है। आखिर भविष्य में आने वाली बातों के लिये हमें बहुत कुछ तो पूर्ववर्त्ती दृष्टांतों के आधार पर ही व्यवस्था करनी होगी। मैं तो इस बात का कोई भी औचित्य नहीं देखता कि विधान में विरोधी पक्ष को मान्यता क्यों दी जाये और विरोधी पक्ष के नेता के वेतन का प्रावधान वहां क्यों रखा जाये।

विरोधी पक्ष के नेता के संबंध में इतना कह लेने के बाद अब मैं श्री लारी के उस प्रस्ताव की ओर आता हूं जो उन्होंने संसद के सदस्यों के वेतन की दर के संबंध में रखा है। मैं तो यह अनुभव करता हूं, हमारे जैसे देश के लिये यह प्रस्ताव सर्वथा

अनुचित है। हमारे देश में, जो लोग चोटी पर हैं उनकी आमदनी में और उन लोगों की आमदनी में, जो बिल्कुल ही निम्न स्तर पर है, गरीब हैं और बड़ा भारी अन्तर है और वेतन के लिये जो दर आपने प्रस्ताव में रखी है उससे यह वर्तमान वैषम्य सदा के लिये स्थायी हो जायेगा। अतः यह प्रस्ताव तो मेरी कल्पना के बाहर है। आपका कहना है कि मिनिस्टरों को जो वेतन मिले उसके एक चौथाई और एक तिहाई के बीच सदस्यों को वेतन दिया जाये अगर मंत्रियों का वर्तमान वेतन जो तीन हजार माह वार रखा गया है वही रहता है तो सदस्यों को, आपके प्रस्ताव के अनुसार 750 से लेकर एक हजार रुपये माह वार मिलना चाहिये। मैं माननीय मित्र से यह पूछना चाहता हूं कि अपने देश की अवस्था को देखते हुए क्या उनके लिये यह उचित है कि सदस्यों के लिये 750 से एक हजार रुपये माहवार तक के वेतन का वह प्रस्ताव करे?

***श्री जैड.एच. लारी:** एक हजार रुपये तो हम सबको फिलहाल मिल ही रहे हैं।

***श्री विश्वनाथ दास:** हो सकता है, अगर वह कई समितियों के सदस्य हैं और नियमित रूप से सभा में उपस्थित रहते हैं तो उन्हें एक हजार मिलता हों। उस सूरत में भी मैं उनसे कहूंगा कि उन्होंने जो कुछ कहा है वह सही नहीं है। जहां तक मैं जानता हूं सभा का कोई भी सदस्य तेरह सौ रुपया बतौर अधिदेय के नहीं लेता है। मैं उन सदस्यों में हूं जिन्होंने यह समझकर कि रोजाना 45 रुपये बहुत ज्यादा हैं, केवल तीस रुपया रोजाना लेना पसन्द किया है और फिर एक साधारण कर्मी हूं और मुझे 45 रुपये रोज की जरूरत नहीं है। मैं अपने ऐसे सदस्यों को भी जानता हूं जो विधान-मंडल से रकम पाते ही उसे सीधे अपनी जिला कांग्रेस कमेटी को दे देते हैं और फिर जिला कांग्रेस कमेटी से वेतन के रूप में वह रकम पाते हैं जो कमेटी ने सदस्यों के लिये निश्चित कर रखा है। वह अपना सारा समय ही सार्वजनिक कामों में लगाते हैं पर वेतन लेते हैं उतना ही जो उनकी जिला कांग्रेस कमेटी ने तय कर रखा है न कि वह रकम जो उन्हें विधान-मंडल से मिलती है। ऐसी स्थिति में, मेरा ख्याल यह है कि सभा के समक्ष ऐसा प्रस्ताव लाकर मेरे मित्र ने अपने निर्वाचकों के प्रति और देश के प्रति बड़ा अन्याय किया है।

जहां तक मेरा अपना संबंध है श्रीमान्, मैं यह महसूस करता हूं कि इस संशोधन की किसी भी बात से मैं कोई भी सरोकार नहीं रख सकता। मैं इसे सर्वथा अनावश्यक, अवांछनीय बल्कि दुर्भाग्यपूर्ण समझता हूं। इसलिये मैं अनुच्छेद 86 का, जिस रूप में कि अभी यह है, समर्थन करता हूं। किन्तु मेरी अपनी प्रबल इच्छा यही है कि सभा के माननीय सदस्यों के लिये वेतन की कोई दर निश्चित नहीं की जानी चाहिये और सभा उन्हें जो भी अधिदेय देना तय करे उससे सर्वथा सन्तुष्ट होकर देश की सेवा के लिये सदा स्वेच्छया तैयार रहना चाहिये।

***काजी सैयद करीमुद्दीन:** (मध्यप्रान्त और बरार : मुस्लिम): अध्यक्ष महोदय, श्री लारी ने जो संशोधन उपस्थित किया है वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण संशोधन है और जिन सदस्यों ने उसका विरोध किया है उन्होंने विरोध के दो कारण बतायें हैं पहला तो यह कि दुनिया के किसी भी विधान में ऐसा कोई प्रावधान लिपिबद्ध नहीं किया गया है। दूसरा कारण यह बताया गया है कि विरोधी पक्ष के नेता का वेतन रूढ़ियों के आधार पर स्थिर किया

[काजी सैयद करीमुद्दीन]

जाता है। मैंने बड़े ध्यान से श्री दास की वक्तृता सुनी है, जिन्होंने यह विचार किया है कि विरोधी पक्ष का होना एक आवश्यक बुराई है। संशोधन की उपयोगिता के संबंध में अगर कोई सन्देह भी था तो श्री दास की वक्तृता सुनने के बाद वह सन्देह जाता रहा है और अब मैं अच्छी तरह यह समझ गया हूं कि इस देश में ऐसे लोग हैं जो इस व्यवस्था को एक आवश्यक बुराई समझते हैं और इसलिये इस व्यवस्था को खुद विधान में लिपिबद्ध करना आवश्यक है। श्री कृष्णमाचारी का कहना है कि यह कोई सैद्धांतिक प्रश्न नहीं है, यह तो महज तफसील की एक बात है मेरा निवेदन यह है कि जब इस देश में विरोधी पक्ष का होना बर्दाश्त ही नहीं किया जाता है, जब उसकी उपेक्षा की जाती है, बल्कि उसे साधारणत: दंडित किया जाता है तो ऐसी हालत में तो यह जरूरी है कि विधान द्वारा विरोधी पक्ष को मान्यता दी जाये। विश्व का ऐसा कोई भी लोकतंत्र नहीं है जो विरोधी पक्ष के अभाव में सुचारू रूप से काम कर सकता हो। अधिकारारूढ़ दल की गलतियों को और उसकी खामियों पर विरोधी पक्ष द्वारा प्रकाश पड़ना ही चाहिये। और विरोधी पक्ष के कारण अधिकारारूढ़ दल को सदा अपने कार्यों में सतर्क रहना होगा। भारतीय लोकतंत्र तो एक नवजात लोकतंत्र है और यहां हम यह देखते हैं कि हर प्रांत में यहां तक कि केन्द्र में भी विरोधी पक्ष को लोग बर्दाश्त नहीं करते और उसकी कोई कद्र नहीं की जाती है। आज प्रांतों में क्या हो रहा है? पब्लिक सेफ्टी एक्ट और अन्य कानूनों के बल पर विरोधी पक्ष के नेताओं को या उन लोगों को जो कि विरोधी पक्ष में है धमकाया जाता है। केवल इतना ही नहीं, विरोधी दल प्रांतों में लुप्त होता जा रहा है। आखिर इसका कारण क्या है? इसका एकमात्र कारण यही है कि अगर कोई मुसलमान विरोध करता है तो सरकार यह कहती है कि वह मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्रीय सिद्धांत में विश्वास रखता रहा है। उससे यह कहा जाता है कि अगर तुम अपना विरोध बन्द नहीं करते हो तो उसको बर्दाश्त नहीं किया जायेगा। और कोई समाजवादी विरोध करता है तो यह कहा जाता है कि वह सरकार का शत्रु है और अगर कोई कम्युनिस्ट विरोध करता है तो उसे गुंडा बताया जाता है। यह तो अवस्था है जो आज प्रांतों में तथा केन्द्र में देखने को मिलती है। इसलिये विधान द्वारा विरोधी पक्ष को मान्यता देना अब जरूरी हो गया है। मिस्टर लारी ने कहा है कि यह एक सिद्धांत का प्रश्न है। यह वेतन का प्रश्न नहीं हैं मेरा कहना यह है कि अगर विपक्षी दल के नेता को एक वेतन दिया जाता है तो वह अपना सारा समय सरकार की आलोचना में, उसकी गलतियों और असफलताओं के विरुद्ध जनमत तैयार करने में लगा सकेगा। इसलिये मेरा कहना तो यही है कि अब मौका आ गया है कि हम विधान द्वारा विरोधी पक्ष की उपादेयता को स्वीकार करें। मिस्टर लारी का संशोधन अगर आप स्वीकार कर लेते हैं तो उसका मतलब यह होता है कि आप यह स्वीकार करते हैं कि देश में एक रचनात्मक विरोधी पक्ष का होना बड़ा जरूरी है। श्री आयंगर ने कहा है कि रचनात्मक विरोध को तो सहन करना ही होगा। किन्तु इस बात का फैसला कि कौन सा विरोध रचनात्मक है और कौन सा अरचनात्मक, अधिकारारूढ़ दल पद छोड़ा जाता है तो मेरा अपना ख्याल तो यह है कि हर विरोध को, हर आलोचना को वह अरचनात्मक ही कहेगा और उसकी अवहेलना ही करेगा। इसलिये मैं श्री लारी के संशोधन का समर्थन करता हूं और सभा से सिफारिश करता हूं कि वह उसे स्वीकार करे।

***श्री नजीरुद्दीन अहमद** (पश्चिमी बंगाल : मुस्लिम): अध्यक्ष महोदय, मैं मिस्टर लारी के संशोधन का समर्थन करता हूं, जहां तक कि इसकी दूसरी परन्तुका का संबंध है। सैद्धांतिक दृष्टि से मैं इसका समर्थन करता हूं और सभा से भी मैं यह अनुरोध करूंगा कि वह वेतन संबंधी प्रश्न पर अवश्य विचार करे। एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वैधानिक प्रश्न इसमें उठाया गया है और इसी कारण मैं इसका समर्थन करता हूं। मैं सभा से पहले यही अनुरोध करूंगा कि वह उस सिद्धांत पर विचार करे जो इसमें सन्निहित है। वेतन संबंधी प्रश्न तो एक गौण विषय है पर महत्त्व की बात विधान द्वारा विरोधी पक्ष को मान्यता का दिया जाना है, इस संशोधन में जो महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक प्रश्न सन्निहित है वह यही कि विधान में इसका उल्लेख होना चाहिये। इस सैद्धांतिक प्रश्न के सामने वेतनादि का प्रश्न सर्वथा नगण्य है। इसलिये सभा का ध्यान मैं प्रश्न के इसी महत्त्वपूर्ण पहलू की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं।

सभा के तीन गम्भीर एवं विवेकशील सदस्यों ने—श्री टी.टी. कृष्णमाचारी, श्री अनन्तशयनम् आयंगर एवं श्री विश्वनाथ दास ने—इस संशोधन का विरोध तो किया है पर ऐसा करने में उन्हें बड़ी तकलीफ उठानी पड़ी है। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के खिलाफ समझाने में यहां उन्हें काफी दिक्कत उठानी पड़ी है। श्री कृष्णमाचारी हैं तो एक अर्थशास्त्र विशेषज्ञ पर इस संशोधन के खिलाफ कानूनी दलील पेश करने में उन्हें काम करना पड़ा एक वकील के रूप में। हां, मिस्टर आयंगर एक बड़े कानूनदां हैं पर मुझे खेद है वह यहां एक साधारण वकील से ऊपर नहीं उठ सके। लोकतंत्रात्मक संसद में विरोधी पक्ष का होना एक नितांत आवश्यक बात है, श्रीमान्। लोकतंत्रीय संस्थाओं के लिये विरोधी पक्ष का होना एक अनिवार्य आवश्यकता है। हम चाहते हैं कि हमारा राज्य लोकतंत्रीय हो और वह एक सर्वसत्ताधारी गणतंत्र हो और यही रूप हम उसको देना चाहते हैं। अगर आप यहां विरोधी पक्ष का होना सुनिश्चित नहीं बना सकते तो अपने इस विधान को लोकतंत्रीय विधान कह कर एक ''अलोकतंत्रीय सर्वसत्ताधारी गणतंत्र'' का विधान कहिये। लोकतंत्र की वास्तविकता इसमें है कि वहां विरोधी पक्ष हो। श्री कृष्णमाचारी ने कहा है कि वेतन की व्यवस्था से ही विरोधी पक्ष का आखिर निर्माण तो हो नहीं जायेगा। आपका कहना है कि विरोधी पक्ष शनैः शनैः विकास में आता है और यह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसको कि हम निर्माण करके स्थापित कर सकते हों। किन्तु आप भूल जाते हैं कि वेतन की व्यवस्था से विरोधी पक्ष को एक दर्जा मिल जाता है और इससे उसे एक मान्यता भी प्राप्त हो जाती है। विधान-परिषद् के सदस्य जब विधान-मंडल के रूप में बैठकर सरकारी प्रस्तावों का विरोध करना चाहते हैं तो उन्हें वैसा करने में बड़ी ही कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। मैं तो कहूंगा कि एक प्रभावशाली विरोधी पक्ष के न होने से विधान-मंडल बिल्कुल बिगड़ जाता है। विरोधी पक्ष के रहने से बहुमत प्राप्त दल में सहनशीलता पैदा हो जाती है और विपक्षी दल के न रहने से उनकी वह सहनशीलता सर्वथा जाती रहती है। इसका नतीजा यह होता है कि जब कभी उनकी कोई आलोचना की जाती है तो अधिकारारूढ़ दल का कोई न कोई सदस्य अधीर हो उठता है। ज्योंही कोई तर्क उनके विरुद्ध उपस्थित किया जाता है कि सरकार की तथाकथित प्रतिष्ठा संकट में पड़ने लग जाती है और अधिकारारूढ़ दल उन तर्कों का विरोध करता है, उन पर आक्रोश प्रकट करता है और उनके प्रति उपेक्षा एवं घृणा का व्यवहार बरतता है। कल ही मैंने एक प्रस्ताव रखा था और मेरी समझ से वह सर्वथा युक्तिसंगत था पर डा. अम्बेडकर

[श्री नजीरुद्दीन अहमद]

ने उसे बिल्कुल व्यर्थ और अयुक्तिसंगत बतला दिया। इसके लिये डा. अम्बेडकर को मैं दोषी ठहराता हूं। आज अधिकारारूढ़ दल का जबर्दस्त बहुमत है और उसके मुकाबले में जो विरोधी पक्ष है वह बहुत ही निर्बल है। सुतरां ऐसी स्थिति में यह होना स्वाभाविक है। किसी प्रभावशाली विपक्षी दल के न होने से ही ऐसी स्थिति पैदा होती है। सरकार के पीछे एक विशाल दल है जिसका कि उसे विश्वास प्राप्त है और उसी के फलस्वरूप आज यह स्थिति पैदा हुई है और उसी के कारण अधिकारारूढ़ दल में विपक्षी दल के प्रति उपेक्षा एवं असहिष्णुता का भाव उत्पन्न हो गया है। मैं यह कहूंगा श्रीमान्, कि एक प्रभावशाली विरोधी पक्ष के न होने से सरकार को इस बात का प्रोत्साहन मिल जाता है कि वह निर्द्वन्द होकर जनमत की बिना कोई परवाह किये जो चाहे करे। इसका परिणाम क्या होता है? बाहर वालों को अर्थात् जनता को यहां की कार्यवाही में कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती है। वह यह समझते हैं कि यहां सरकार जो कुछ कहे उसके पक्ष में 'हां' कहने के सिवाय सदस्यों को और कोई काम नहीं है। मैं निवेदन करूंगा कि वास्तविक लोकतंत्र के विकास के लिये यह हितकर नहीं है। प्रांतों में सरकारों का बहुत ही अरचनात्मक विरोध हुआ है। मैं यही चाहता हूं कि कांग्रेस का शासन बना रहे। इस समय कोई दूसरा दल ही नहीं है जिसकी हुकूमत की मैं कल्पना कर सकूं। अत: मेरा अपना यही ख्याल है कि अभी कुछ समय तक कांग्रेस को ही अधिकारारूढ़ रहना चाहिये। किन्तु इसमें मैं एक शर्त रखना चाहता हूं और वह यह है कि इसे इसका पूरा प्रयास करना चाहिये और इसके लिये प्रोत्साहन देना चाहिये कि कोई न कोई विरोधी पक्ष यहां कायम हो। इस तरह से एक विरोधी पक्ष का निर्माण हो सकता है और होना चाहिये। मैं तो कहूंगा कि विरोधी पक्ष के नेता को न केवल पर्याप्त वेतन ही मिलना चाहिये बल्कि उसे एक सचिवालय की सारी सुविधायें प्राप्त होनी चाहियें। जिन सदस्यों ने सरकार के विरोध का कड़वा और अप्रिय कार्य करना पड़ा है उन्हें सचिवालय संबंधी सुविधाओं के न रहने से अपने काम में बड़ी दिक्कतें उठानी पड़ी है। और ऐसी स्थिति में कोई विपक्षी दल यहां विकसित नहीं हो पाया है। अत: मैं तो कहूंगा कि देश प्रेम के नाते, सभा के प्रत्येक सदस्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात की कोशिश करे कि यहां एक प्रभावशाली विपक्षी दल विकसित हो जाये। अगर आप चाहते हैं कि आपकी गवर्नमेंट एक स्थायी गवर्नमेंट हो, अगर आप चाहते हैं कि जनता की निगाह में आपका सम्मान बना रहे, अगर आप चाहते हैं कि जनता में कांग्रेस विरोधी भावना न पैदा हो जो कि आज बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है, अगर आप यह समझते हैं कि आपको जनता को उन शक्तियों के साथ जाने से रोकना चाहिये जो अशांति और अव्यवस्था उत्पन्न कर रही हैं तो जरूरी है कि आप इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करें। आपके लिये यह बहुत जरूरी है कि आप एक विरोधी पक्ष यहां कायम करें और अगर जरूरत हो तो स्वेच्छा से आप में से कुछ लोगों को विपक्षी दल में शामिल हो जाना चाहिये ताकि वह सुदृढ़ और रचनात्मक रहे। विधान में इसको स्थान देकर और प्रोत्साहन देकर ही आप एक रचनात्मक विरोधी पक्ष का निर्माण कर सकते हैं। और मिस्टर कृष्णमाचारी का कहना यह है कि विधान में इसका प्रावधान होना ही नहीं चाहिये। आप तो यहां तक कहते हैं कि परम्परा एवं रूढ़ि के आधार पर ही विरोधी पक्ष का विकास होना चाहिये। अवश्य ही इंग्लैंड के संबंध में यही बात है और वहां हर पद्धति रूढ़ि के आधार पर ही विकसित हुई है। वहां विरोधी पक्ष के नेता

को दो हजार पौंड वेतन मिलता है और एक सचिवालय की सारी सुविधायें उसे प्राप्त हैं। किन्तु जहां तक हमारे विधान का संबंध है वह तो एक लिपिबद्ध विधान है और जब उसमें हमने मंत्रियों के वेतन एवं अधिदेय का खासतौर पर उल्लेख किया है और अगर विरोधी पक्ष के नेता के वेतन का हम उसमें उल्लेख नहीं करते हैं तो कायदे के मुताबिक उसका भाष्य यही किया जायेगा कि विरोधी पक्ष के नेता को विधान कोई वेतन देना नहीं चाहता है। इसलिये मैं तो यही समझता हूं कि विधान में विरोधी पक्ष के नेता के वेतन का उल्लेख खासतौर पर होना चाहिये। हां, वेतन की रकम क्या हो इसे तथा अन्य विस्तार की बातों को विचारार्थ आप भले ही छोड़ दें।

इसलिये मैं माननीय सदस्यों से यह कहूंगा कि पहले वह इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत के संबंध में ही निश्चय कर लें। उन्हें पहले यही तय कर लेना चाहिये कि शासन-व्यवस्था की सुरक्षा के लिये वह विरोधी पक्ष का निर्माण करने पर एवं उसे प्रोत्साहन देने के लिये तैयार है कि नहीं। मूल सिद्धांत को तय कर लेने पर विरोधी पक्ष के नेता के वेतन की बात तय करें। सिद्धांत की बात अगर स्वीकार कर ली जाती है तो वेतन निश्चित करने का प्रश्न तो बहुत गौण है।

मैं यह कहूंगा श्रीमान्, कि श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने इस संबंध में जो तर्क रखे हैं वह मुझे कुछ आश्चर्यपद से ही लगे। उनका कहना है कि संशोधन में विरोधी पक्ष के नेता का वेतन और बिना केबिनेट दर्जा वाले मिनिस्टर का वेतन समान रखा गया हैं। इस बात को लेकर आप यह पूछते हैं कि मान लीजिये हम बिना केबिनेट दर्जा वाले मंत्रियों के पद को उठा देते हैं तो उस सूरत में विरोधी पक्ष के नेता का क्या होगा? उसका यह प्रश्न तो ऐसा मालूम पड़ता है मानो एक वकील की तरह वह वाकचातुर्य द्वारा असल बात को टाल रहे हैं वह इस बात को भूल जाते हैं कि बिना केबिनेट दर्जा वाले मंत्रियों को नियुक्त भले ही न किया जाये पर उनके पदों का निर्माण तो हम कर ही सकते हैं। मैं कह चुका हूं कि यह बात कि विरोधी पक्ष के नेता का वेतन कितना हो या वेतन संबंधी प्रावधान किस रूप में रखा जाये, कोई खास महत्त्व नहीं रखती। अस्तु, मैं यही महसूस करता हूं कि उनका तर्क सर्वथा निराधार है।

बहस मुबाहिसे के सिलसिले में इन तीन विशिष्ट माननीय सदस्यों ने मूल बात के संबंध में—विरोधी पक्ष के नेता को मान्यता दी जाये इस के बारे में—कुछ नहीं कहा। मुझे खुशी है कि एक संगठित विरोधी पक्ष का होना आवश्यक है, इस बात पर इन लोगों ने कोई आपत्ति नहीं व्यक्त की।

श्री आयंगर की एक दूसरी दलील यह रही है कि वर्तमान विरोधी पक्ष के पास अपना कोई खास प्रोग्राम नहीं है। मैं सविनय उनसे निवेदन करूंगा कि इस समय कोई विरोधी पक्ष वर्तमान में नहीं है इसलिये उसके प्रोग्राम का कोई सवाल ही नहीं उठता इस स्थिति के निराकरण के लिये ही तो यह संशोधन रखा गया हैं। मैं यह मानता हूं कि इस समय कोई संगठित विरोधी पक्ष नहीं है, उसका कोई कार्यालय नहीं है, उसके पास धन नहीं है, उसके पास पर्याप्त बल नहीं है कि सुसंगठित कांग्रेस सरकार से मोर्चा ले। मैं तो यह कहता हूं कि विरोधी पक्ष के बहुत से सदस्य यह चाहते हैं कि जहां उनका सरकार से मतैक्य है उसमें वे उसका साथ दें और जहां वे यह समझते हैं कि सरकार गलती कर रही है उसका वे विरोध करें। जहां मतैक्य है वहां वे सरकार के साथ हैं और जहां जरूरत समझेंगे वे उसका विरोध करेंगे। श्री आयंगर ने यह भी कहा है कि सिवाय हैदराबाद

[श्री नजीरूद्दीन अहमद]

के प्रश्न के अन्य किसी प्रश्न पर यहां कभी कोई विरोध नहीं दिखाई दिया। किसी न किसी तरह और किसी न किसी रूप में यहां सभा में साम्प्रदायिकता का हौवा जरूर खड़ा किया जाता है। मैं समझता हूं श्रीमान्, कि ये दलीलें बिल्कुल लचर हैं और सारशून्य हैं। वास्तविक बात तो यह है कि यहां जो विरोधी पक्ष हैं—अगर उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं वह भले ही बिल्कुल निर्बल ही है—पर उसने अपना विरोध केवल हैदराबाद संबंधी प्रश्न तक ही सीमित नहीं रखा है। यहां बड़े-बड़े विवाद हुए हैं और मतभेद के प्रश्नों पर बड़ी बहस हुई है और अवश्य ही व्यक्तिगत रूप से कई व्यक्तियों ने अधिकारारूढ़ दल की नीति का विरोध किया है पर वह विरोध केवल हैदराबाद संबंधी प्रश्न तक ही सीमित नहीं रहा है। हिंदू-कोड-बिल के ही प्रश्न को ले लीजिये। भारतीय मुसलमानों का दृष्टिकोण इस प्रश्न के संबंध में कभी साम्प्रदायिक नहीं रहा है। सरकार के सभी रचनात्मक उपायों का मुसलमानों ने तहेदिल से समर्थन किया है। इसलिये मैं यह कहता हूं कि साम्प्रदायिकता के आधार पर अब कोई तर्क नहीं पेश किया जाना चाहिये। इस दूषित मनोवृत्ति को अब हमें समाप्त कर देना चाहिये, सदा के लिये त्याग देना चाहिये।

इसलिये मैं फिर इस बात को दुहराना चाहता हूं कि अगर आप हुकूमत के रूप में कायम रहना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि जनता आपको आदर एवं प्रेम की दृष्टि से देखती रहे तो आपको यहां एक विपक्षी दल का निर्माण करना चाहिये। आज मुल्क यह महसूस करने लगा है कि अधिकारारूढ़ दल आवश्यकता से अधिक शक्तिमान है। वस्तुतः अधिकारारूढ़ सदस्य भी मन ही मन यह अनुभव करने लगे हैं कि दल आज सर्वेसर्वा बन गया है और उसका उन पर इतना प्रचंड शासन है कि सदस्यों का कोई वैयक्तिक स्वातंत्र्य नहीं रह गया है। हाल में समाचार-पत्रों ने भी यही बात खुलकर कही है। वास्तविक बात तो यह है समाचार-पत्रों में शायद ही ऐसे बहस मुबाहिसों की रिपोर्ट प्रकाशित होती हैं जिनसे सरकार यहां बड़ी विषम स्थिति में पड़ जाया करती है। यहां तक कहा जाता है कि गैर-सरकारी तौर पर दबाव डालकर सरकार इन बातों को समाचार-पत्रों में नहीं आने देती है।

श्रीमान्, यह स्थिति तो कल्याणकारी नहीं कही जा सकती है। आप लोग देश को कहां लिये जा रहे हैं? कम्युनिस्टों के उपद्रव की लपटों से आज चीन घिरा हुआ है। बर्मा भी उनकी पकड़ में आ चुका है। कम्युनिस्टों का उपद्रव बंगाल की पूर्वी सीमा पर पहुंच चुका है। क्या आप देश को कम्युनिस्टों के हवाले कर देना चाहते हैं? अगर आप देश को कम्युनिस्टों के उत्पात से बचाना चाहते हैं तो यहां एक रचनात्मक विरोधी पक्ष की स्थापना कीजिये। इसी तरह आप देशवासियों का समर्थन प्राप्त कर सकते हैं। अन्य कोई विपक्षी दल नहीं आता है तो देशवासियों का विश्वास सरकार से उठ जायेगा और देश में अव्यवस्था पैदा हो जायेगी।

बंगाल में, मैं यह अपने निजी अनुभव के आधार पर कह रहा हूं, आज कांग्रेस सरकार के प्रति प्रांतव्यापी प्रबल आक्रोश है। वहां के मंत्रिमंडल के खिलाफ बड़े ही गम्भीर-गम्भीर अभियोग लगाये जा रहे हैं। मैं यह समझता हूं कि आज देश जिस अशांति और अव्यवस्था की ओर बढ़ता जा रहा है हमें उसे उस तरफ बढ़ने से रोकना ही चाहिये। हम सब तो

सरकार के हाथों को मजबूत बनाना चाहते हैं। हम अशांति और अव्यवस्था पैदा करने वाली ताकतों का साथ नहीं देना चाहते हैं एक रचनात्मक विरोधी पक्ष की स्थापना द्वारा ही आप आने वाले भारत को बचा सकते हैं।

मेरा ख्याल है कि श्रीमान्, जितना समय सभा का मैं लेना चाहता था उससे कुछ ज्यादा मैंने ले लिया है, पर यह मैं अनुभव करता हूं कि यह प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और जितना ध्यान हमने इसकी ओर दिया है उससे अधिक ध्यान इसके लिये अपेक्षित है। इन शब्दों के साथ श्रीमान्, मैं संशोधन के अन्तिम अंश में जो सिद्धांत सन्निहित हैं उसका समर्थन करता हूं।

***डा. पी.एस. देशमुखः** (मध्यप्रांत और बरार : जनरल): अध्यक्ष महोदय, मेरा ख्याल है कि इस एक साधारण अनुच्छेद ने सभा का आवश्यकता से अधिक समय ले लिया है और दोनों ही पक्षों ने—अवश्य ही मैं अपने इस कथन के लिये क्षमाप्रार्थी हूं—इसको लेकर ऐसे प्रश्न उठाये हैं जिनका इस अनुच्छेद से कोई संबंध नहीं है। यह अनुच्छेद बिल्कुल ही सरल है। इसमें यह कहा गया है कि सदस्यों के वेतन एवं अधिदेय के संबंध में भावी संसद समय-समय पर विधि द्वारा निश्चय करेगी। विधि का मतलब यह है कि संसद विधेयक उपस्थित करके इसका फैसला करेगी। इस बात का काफी मौका रहेगा कि हम बिल में विरोधी पक्ष के नेता के—अगर ऐसा पक्ष है—वेतन का प्रावधान कर दें और सभा के सदस्यों के वेतन एवं अन्य राज्य के अन्य अधिकारियों के वेतन में क्या अनुपात रहे, इसका भी जैसा चाहें हम निश्चय कर दें। इन सब बातों को भावी संसद पर ही छोड़ा गया है। मेरा ख्याल तो यह है कि अनुच्छेद में जो प्रावधान रखा गया है वह इतना समुवयुक्त है कि उसे विधान में रखने पर यहां कोई विवाद ही नहीं होना चाहिये। बहुत से सदस्यों ने कहा है कि अधिकारारूढ़ दल को एक विरोधी पक्ष की स्थापना कर ही देनी चाहिये। विरोधी पक्ष की स्थापना का काम मानो कोई पेड़ लगाने का काम हो गया। वर्तमान स्थिति में न तो प्रांतों में और न केन्द्र में ही ऐसा करना उपयुक्त है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए मैं नहीं समझता हूं कि यह कोई इस बात का मौका है कि दल अथवा व्यक्ति अपनी-अपनी शिकायतों को व्यक्त करें इसलिये अनुच्छेद में किसी भी विवाद की गुंजाइश नहीं है। आने वाली पार्लियामेंट के यह अधिकार में होगा कि वह विरोधी पक्ष का नेता रखे, उसे वेतन दे और अगर जरूरत हो तो प्रधानमंत्री से भी अधिक वेतन दे। जरूरत अगर समझी जायेगी तो इस पद की स्थापना स्थायी रूप से की जा सकती है। जो बातें यहां लाई गई हैं उनको इस अनुच्छेद के प्रसंग में लाना मैं उपयुक्त नहीं समझता। अगर संशोधनकर्त्ता महोदय विरोधी पक्ष के अस्तित्व को इतना महत्त्व देते हैं और चाहते हैं कि विधान में इसका उल्लेख हो तो उनके लिये जरूरी यह था कि वह इस मामले को स्वतंत्र रूप से पेश करते और किसी दूसरे मौके पर पेश करते जहां इस संबंध में वाद-विवाद उपयुक्त मालूम पड़ता। इसलिये मैं यह समझता हूं कि यह अनुच्छेद बिल्कुल ही आपत्तिशून्य है और यह स्वीकार होना चाहिये।

एक बात मैं ओर कहना चाहता हूं और वह यह है कि मेम्बरों को वेतन पर्याप्त देना चाहिये। मुझे यह बात भयास्पद मालूम होती है कि सभा के बहुत से सदस्य ऐसे हों जिनकी आवश्यकतायें बनी रहें। यह बड़ी खतरनाक बात है और इससे किसी भी देश में लोकतंत्र का समुचित रूप में चलाना कठिन होगा और खास करके हमारे जैसे गरीब देश

[डा. पी.एस. देशमुख]

में तो बहुत ही मुश्किल होगा। बहुत से सदस्य अपने वेतन और अधिदेय की चर्चा करने में सकुचाते हैं और कुछ लोग वेतन को पूर्णतः या अंशतः त्याग करने में देशभक्ति की भावना का अनुभव करते हैं। किन्तु मैं इस बात का आग्रह करूंगा कि ऐसे सदस्यों के पक्ष में कोई प्रलोभन नहीं आने देना चाहिये, जिससे अपनी ईमानदारी और कर्त्तव्य के मार्ग से वह अलग हो जायें। मैंने बाध्य होकर यह बात कही है, क्योंकि केन्द्र एवं प्रांतों के विधान-मंडलों के कई सदस्यों के व्यवहार ने मुझे ऐसा कहने पर प्रेरित किया है। मैं तो सरकार से कहूंगा कि वह समझने वाली जनता की ओर से उसकी कितनी भी तीव्र आलोचना क्यों न की जाये, उसका वह अवश्य मुकाबला करें। किन्तु सदस्यों को पर्याप्त वेतन और अधिदेय जरूर दिया जाये ताकि दूसरे सूत्रों से फायदा उठाने का प्रलोभन उनके मन में उत्पन्न न हो।

इन शब्दों के साथ मैं, श्रीमान्, इस संशोधन का विरोध और अनुच्छेद का समर्थन करता हूं।

***श्री आर.के. सिधवाः** (मध्यप्रांत और बरार : जनरल): अध्यक्ष महोदय, मैं विरोध के सदा ही पक्ष में हूं, पर वह होना चाहिए रचनात्मक। किन्तु हम आज यहां यह देखते हैं कि लोग केवल विरोध के लिए ही एक विरोधी पक्ष चाहते हैं और इस संशोधन के समर्थकों ने तो यहां तक कहा है कि सरकार के खिलाफ नियमित रूप से एक विरोध चलाना ही चाहिए। मेरे मित्र सैयद करीमुद्दीन ने कहा है कि सरकार का विरोध करने के लिए विरोधी पक्ष के नेता को वेतन देना ही चाहिये। मैं इसका सख्त विरोध करता हूं।

***काजी सैयद करीमुद्दीनः** मैं अपनी बात बता दूं, श्रीमान्, मैंने यह कहा है कि सरकार की भूलों के खिलाफ हमें अवश्य विरोध करना चाहिये।

***श्री आर.के. सिधवाः** हां, यही मैं भी कह रहा हूं। आपने कहा है कि सरकार के खिलाफ विरोधी पक्ष का आन्दोलन चलना चाहिए। सरकार को सुबुद्धि पथ पर लाने के लिये अगर कोई रचनात्मक विरोध किया जाता है तो निश्चय ही वह स्तुत्य है। किन्तु उसको बदनाम करने के लिए उसके विरुद्ध आन्दोलन करना तो बिल्कुल ही एक दूसरी बात है। मेरे मित्र श्री करीमुद्दीन ने कम्युनिस्टों और सोशलिस्टों का जिक्र किया है और कहा है कि वे लोग जो कुछ भी कहते हैं, हम उसे नापसंद करते हैं। यह ऐसी बात नहीं है। हमारी आपत्ति है ऐसे विरोध पर, जो न तो रचनात्मक है और न जो जनता के हित में ही है। एक ऐसा भी वर्ग देश में है, जो निर्दोषों के ऊपर तेजाब फेंकने में, ट्रामों और बसों को जलाने में और बम फेंकने में विश्वास करता है। मान लीजिये इस पक्ष का नेता विधान-मंडल में है और इस नीति की वह वकालत करता है तो क्या आप उसे रचनात्मक विरोध कहेंगे? मैं तो इस वर्ग को देश का शत्रु कहता हूं और इनके नेता को आप यह चाहते हैं कि सरकारी खजाने से वेतन दिया जाये? अवश्य ही यह सत्य है कि इंग्लैंड में विरोधी पक्ष के नेता को सरकारी खजाने से वेतन मिलता है। मुझे इसका इतिहास तो नहीं मालूम है, किन्तु वहां विरोधी पक्ष का नेता न केवल सरकार का विरोध ही करता है, बल्कि समय-समय पर वह उसका समर्थन भी करता है। खैर, इंग्लैंड में चाहे कुछ भी होता हो, मैं इस सिद्धांत के खिलाफ हूं कि विरोधी पक्ष के

नेता को सरकारी खजाने से वेतन दिया जाये। हर पार्टी का अपना फंड होता है और अगर कोई पार्टी चाहती है कि उसका नेता अपना समूचा समय पार्टी के लिये लगावे, तो पार्टी को उसे अपने पास से पैसा देना चाहिए। सरकार का वह समय असमय हमेशा विरोध करेगा और सरकार ही उसको वेतन देगी? यह नहीं होना चाहिये। यह एक गलत सिद्धांत है और मैं इसका जबरदस्त विरोध करता हूं।

***श्री रामनारायण सिंहः** (बिहार : जनरल): अध्यक्ष महोदय, मिस्टर लारी के संशोधन का मैं समर्थन तो नहीं करता हूं, किन्तु मेरी समझ से उन्होंने बहुत ही महत्त्वपूर्ण वैधानिक प्रश्न उठाया है जिस पर सभा को विचार करना चाहिये। मैं ब्रिटिश विधान-पद्धति का प्रशंसक नहीं हूं। उनके यहां पार्टी सिस्टम पर शासन चलता है और मेरी समझ से इससे लोकतंत्र के मूल सिद्धांत का ही हनन हो जाता है। हम लोगों से यह कहा जाता है कि वहां विरोधी पक्ष है और उसके नेता को सरकारी कोष से वेतन दिया जाता है। यह एक अच्छा सिद्धांत है। किन्तु अपने देश में हमने अभी-अभी स्वतंत्रता प्राप्त की है और हमारे अधिकारारूढ़ दल यानी कांग्रेस दल के सामने कोई विरोधी पक्ष नहीं है। मैं जानता हूं कि देश में क्या-क्या हो रहा है और मेरा यह ख्याल है कि हमारे कार्यों की आलोचना करने के लिए एक प्रबल विरोधी पक्ष होना ही चाहिए। महाभारत में हम देखते हैं कि भीष्म और अर्जुन एक दूसरे का विरोध करते हैं और भीष्म अर्जुन को बताते हैं कि उनको (भीष्म को) किस तरह मारा जा सकता है। इसी तरह मैं समझता हूं कि वह सरकार एक अच्छी सरकार है, जो विरोधी पक्ष की स्थापना करती है, उसको प्रोत्साहन देती है और वक्त आने पर मैदान से हटने के लिए सदा तैयार रहती है। ऐसी सरकार जो विरोध को पंसद नहीं करती है और सदा अधिकारारूढ़ बना रहना चाहती है, वह देशभक्त नहीं कही जा सकती, बल्कि उसे देशघाती हुकूमत कहना चाहिए। कई प्रांतों में, मेरे अपने प्रांत बिहार में ही, मैं जानता हूं कि क्या हो रहा है। वहां कांग्रेस हुकूमत के सामने कोई विरोधी पक्ष है नहीं, इसलिये वहां सभी तरह के कुकर्म हो रहे हैं। इसलिए मैं यह अनुभव करता हूं कि सरकार की आलोचना के लिए विरोधी पक्ष होना ही चाहिये और उसको प्रोत्साहन मिलना चाहिये। यह जरूरी नहीं है कि विधान में ही उसका उल्लेख किया जाये, किन्तु विधान पास होते ही हमें इस प्रश्न पर यथाशीघ्र विचार करना चाहिये।

***माननीय डॉ. बी.आर. अम्बेडकरः** (बम्बई : जनरल): अध्यक्ष महोदय, खेद है कि मैं माननीय मित्र लारी के संशोधन को स्वीकार करने में असमर्थ हूं। संशोधनकर्ता ने जो दलीलें पेश की हैं, उनका विस्तारपूर्वक जबाव देना मैं जरूरी नहीं समझता हूं। क्योंकि श्री अनन्तशयनम् आयंगर और श्री टी.टी. कृष्णमाचारी ने उनका जो कुछ उत्तर दिया है उससे मैं सर्वथा सहमत हूं। इसलिए इस सम्बन्ध में और कुछ न कहकर मैं सभा का समय बर्बाद नहीं करना चाहता। उन्होंने जो जवाब दिया है, वह काफी है।

पर श्री संतानम् के संशोधन को मैं स्वीकार करता हूं, जिसमें उन्होंने कहा है कि ''भारत अधिराज्य के विधान-मंडल'' की जगह ''विधान-परिषद्'' शब्द रखे जायें।

***अध्यक्ष:** अब मैं एक-एक करके सभी संशोधनों पर मत लूंगा।

प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 86 में 'और जब तक तद्विषयक प्रावधान इस प्रकार नहीं बनाया जाता, तब तक, अधिदेय ऐसी दर से और ऐसे प्रतिबन्धों सहित होंगे जैसे कि इस संविधान की प्रारम्भ विधि सद्यपूर्व भारत अधिराज्य के विधान-मंडल के सदस्यों के विषय में लागू थे'। शब्दों को हटा दिया जाये और निम्नलिखित परन्तुका जोड़ दिया जाये:

'किन्तु शर्त यह है कि संसद के सदस्यों को दिया जाने वाला वेतन, कैबिनेट मिनिस्टर को दिये जाने वाले वेतन की एक-चौथाई से कम या एक-तिहाई से ज्यादा न होगा।'

'और शर्त यह है कि विपक्षी दल का नेता उस वेतन का अधिकारी होगा, जो बिना कैबिनेट दर्जा वाले किसी मंत्री को दिया जायेगा।' ''

संशोधन नामंजूर हुआ।

***अध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 86 में 'भारत अधिराज्य के विधान-मंडल' शब्दों की जगह 'विधान-परिषद्' शब्द रखे जायें।''

संशोधन स्वीकृत हुआ।

***अध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 86 को, संशोधित रूप में, विधान का अंग माना जाये।''

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

अनुच्छेद 86 अपने संशोधित रूप में विधान में जोड़ा गया।

अनुच्छेद 87

***अध्यक्ष:** अब सभा अनुच्छेद 87 पर विचार करेगी। मैं देखता हूं कि प्रोफेसर शाह का संशोधन नं. 1638 अनुच्छेद 98 के अन्दर आ जाता है, जो थोड़ा ही आगे चलकर आयेगा।

***प्रो. के.टी. शाह:** (बिहार : जनरल): संशोधन का दूसरा हिस्सा उसके अन्दर नहीं आता है, श्रीमान्, मैं केवल दूसरे हिस्से को ही पेश करूंगा। मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि:

''अनुच्छेद 87 के खंड (1) के पहले निम्नलिखित नया खंड जोड़ा जाये:

'(1) संसद के किसी आगार को अधिकार होगा कि भारत की जनता अथवा भारतीय संघ के अंगभूत किसी प्रदेश (इकाई) की जनता की ओर से आये हुये प्रार्थना-पत्र या अर्जी को वह ग्रहण करे।' ''

मैं इसे जनता का एक बहुत ही जरूरी अधिकार समझता हूं और संसद का भी एक विशेषाधिकार है। यह आवश्यक है ताकि जनता को, जिसका कि प्रतिनिधान संसद करती

है, को सीधे सत्ताधारी विधान-मंडल के पास पहुंचने का अधिकार रहे और वह उसके सामने किसी भी कानून के सम्बन्ध में, जो विचाराधीन हो, अपनी शिकायतें उसके सामने रख सके या अपनी बात कह सकें।

ये प्रार्थना पत्र वित्त संबंधी मामलों का प्रशासन संबंधी कार्यों के संबंध में भी हो सकते हैं। इन सभी मामलों में, साधारणत: जब तक कि जनता को इस तरह का कोई विशेषाधिकार देने की व्यवस्था नहीं की जाती है, उनको वस्तुत: अपनी शिकायतों को अथवा किसी प्रश्न के सम्बन्ध में अपने विचारों को सत्ताधारी विधान-मंडल के समक्ष उपस्थित करने को कोई अधिकार ही नहीं रहता है, यद्यपि सिद्धान्तत: सत्ता जनता में ही सन्निहित है।

संसद की अवधि मान लीजिये पांच साल की है और ऐसा कोई प्रार्थना पत्र देने का मौका आता है लोक सभा के चुनाव के चार या पांच वर्ष बाद, तो इस अरसे में, सम्भव है कि लोक सभा के प्रतिनिधियों का जनता से कोई संपर्क शेष न रह गया हो और सदस्यों ने जनेच्छा के अनुसार काम करना बन्द कर दिया हो, जैसा कि इस समय बहुत कुछ हो गया है, तो इस सूरत में संभव है और यह अक्सर होता है कि इस अधिकार के अभाव में जनता अपनी बात संसद के समक्ष रख ही न पाये।

और न ऐसी कोई नियमित व्यवस्था ही है जिसके द्वारा संसद लोकमत को परख सके। हां, मिनिस्ट्री या सरकार जिस रूप में चाहे, अपने ढंग से जनता के समक्ष किसी मसले को रखकर उस पर उसकी राय भले ही मांगे। मेरा यह सुझाव है कि जनता को संसद के समक्ष सीधे पहुंचने का और किसी खास मसले पर अपने विचारों को उसके सामने रखने का और इस तरह संसद की उस सम्बन्ध में प्रतिक्रिया जानने का अधिकार होना ही चाहिये। इस देश में तो गरीब से गरीब आदमी को यह अधिकार प्राप्त था। जनता अगर यह समझती थी कि इसके विरुद्ध अन्याय हुआ है या कोई व्यक्ति यह समझता था कि उसके साथ अन्याय हुआ है, तो यहां के पुराने एकतंत्र के जमाने में भी, उसे सीधे सम्राट के पास पहुंचने का अधिकार प्राप्त था। आज के जमाने में, जब हम जनता को इतना सम्मान देते हैं कि उसमें ही सत्ता सन्निहित समझते हैं, जब हम गला फाड़कर यह उद्घोष करते हैं, सारी सत्ता जनता में ही सन्निहित है और हम सरकार तो केवल उसके चाकर मात्र हैं, तो ऐसी हाल में मेरा ख्याल है कि यह मांग कोई बहुत बड़ी मांग नहीं है कि विधान में यह बात लिपिबद्ध कर दी जाये कि जनता को सीधे संसद के पास पहुंचने का और अपना प्रार्थनापत्र देने का अधिकार है क्योंकि आखिर हम अपना विधान ब्रिटिश प्रणाली पर ही बना रहे हैं, जिसमें जनता के इस अधिकार को एवं संसद के विशेषाधिकार को स्वीकार किया गया है।

'प्रार्थना पत्र' शब्द को मैं खुद भी इतना पसंद नहीं करता, पर संशोधन में इसलिए इसे रखा कि इस शब्द का प्रयोग बहुत प्रचलित हो गया है। एक दूसरे संशोधन की भी मैंने सूचना दी है पर मैं उसे पेश नहीं कर रहा हूं और उसमें मैंने इससे उल्टी एक व्यवस्था का सुझाव दिया है। उसमें मैंने यह कहा है कि संसद को भी यह अधिकार होना चाहिए कि किसी मसले पर, बजाय इसके कि सरकार जनमत ले, वह खुद जनमत ले ले। पर इस संशोधन के संबंध में मैंने यह महसूस किया कि आज जो मनोदशा वर्तमान है और परम्परा प्रचलित है, उसमें यह सुझाव बिल्कुल अद्भुत और बड़ा ही परिवर्तनकारी

[प्रो. के.टी. शाह]

सा प्रतीत होगा कि संसद जनता से उसकी राय मांगे, यद्यपि मेरी अपनी राय यही है कि जहां तक कि वास्तविक लोकतंत्र का संबंध है, यह पद्धति उसके सर्वथा अनुरूप है, किन्तु मैं पुनः यह बता देता हूं कि उस संशोधन को मैं अब नहीं पेश कर रहा हूं। मेरा ख्याल है कि प्रस्तुत संशोधन भी उक्त संशोधन का रूपांतर मात्र है। मेरे ख्याल से यह बिल्कुल सही और सनातन है और किसी को भी इस पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जो पद्धति उसमें सुझाई गई है वह आज सर्वत्र मान्य हो चुकी है। सभी जगह यह पद्धति बरती जा रही है और कारण नहीं है कि हमारे देश में यह नापसन्द की जाये अथवा दुरुपयोग हो। इन शब्दों के साथ मैं सभा से सिफारिश करता हूं कि वह इसे स्वीकार करे।

(संशोधन 1639, 1640 और 1641 पेश नहीं किये गये।)

***प्रो. के.टी. शाहः** नं. 1642 और 1643 भी इसी विषय के संबंध में हैं। इजाजत हो तो इन दोनों को साथ ही पेश कर दूं। इससे समय में बचत हो जायेगी।

***अध्यक्षः** प्रो. शाह अपने इन दोनों संशोधनों को एक साथ पेश कर सकते हैं।

***प्रो. के.टी. शाहः** मैं यह प्रस्ताव रखता हूं, श्रीमान् किः

''अनुच्छेद 87 के खंड (5) में 'कोई विधेयक जो' शब्दों के बाद 'राज्य-परिषद् द्वारा पारित हो चुका है' तथा 'लोक सभा में लम्बमान है' शब्दों के बाद 'वह लोक सभा के विघटन पर व्यपगत न समझा जायेगा, बल्कि ऐसे विघटन के बाद जो नई लोक सभा निर्वाचित हो, वह उसको जिस स्थिति में कि लोक सभा के विघटन के समय वह था, उसके आगे ले सकती है तथा राज्य-परिषद् ने जिस रूप में उसे पारित किया था, यदि उसी रूप में लोक सभा उसे स्वीकार कर लेती है, तो वह विधेयक संसद के दोनों आगारों द्वारा समुचित रूप से पारित समझा जायेगा और अनुमति के लिये फौरन उसे प्रधान के पास भेज दिया जायेगा।

जिस रूप में राज्य-परिषद् ने विधेयक को पारित किया था उसमें अगर लोक सभा ने कोई संशोधन किया तो वह राज्य-परिषद् को लौटा दिया जायेगा और अगर लोक सभा द्वारा किये गये संशोधनों को राज्य-परिषद् स्वीकार कर लेती है, तो उस सूरत में विधेयक लोक सभा में वापिस न लाया जायेगा बल्कि संसद के दोनों आगारों द्वारा वह पारित समझा जायेगा और अनुमति के लिये प्रधान के पास भेज दिया जायेगा। शब्द क्रमशः रखे जायें।''

तथा यह किः

''अनुच्छेद 87 के खंड (5) के बाद निम्नलिखित नये खंड जोड़ दिये जायें–

'(6) कोई विधेयक जो किसी भी अवस्था में लोक सभा में लम्बमान है, पर विघटन के समय तक वह वहां पारित नहीं हो सका है, तो वह लोक सभा के विघटन पर व्यपगत समझा जायेगा।

(7) कोई विधेयक जो लोक सभा द्वारा, उसके विघटन के पहले, सभी सीढ़ियों में पारित हो चुका है किन्तु विघटन के समय एक राज्य-परिषद् को नहीं भेजा गया है, वह लोक सभा द्वारा पारित रूप में राज्य-परिषद् द्वारा लिया जायेगा और अगर लोक सभा के विघटन के 30 दिनों के भीतर वह उसी रूप में स्वीकृत हो जाता है, तो वह संसद के दोनों आगारों द्वारा समुचित रूप से पारित समझा जायेगा और अनुमति के लिये प्रधान के पास भेज दिया जायेगा।

(8) राज्य-परिषद् में किसी भी दशा में लम्बमान कोई विधेयक, जिस पर लोक सभा ने विचार नहीं किया है, लोक सभा के विघटन के समय उस सभा द्वारा पास न समझा जायेगा किन्तु लोक सभा के विघटन के साथ उसे व्यपगत समझा जायेगा।' ''

(That in clause (5) of article 87, after the words ''A Bill which'' the words ''has been passed by the Council of States and'' and after the words ''the House of the People'' the words ''shall not be deemed to have lapsed on a dissolution of the House of the People, but may be taken up by the new House of the People elected after at such dissolution from the state at which the Bill was at the time of the dissolution of the House; and if agreed to in identical form with that passed by the Council of States, the Bill shall be deemed to have been duly passed by both Houses of Parliament, and shall forthwith sent up for the assent of the President.

If any amendments are made in the House of the People in the Bill as passed by the Council of States such a Bill shall be returned to the Council of States and if the amendments made by the House of the People are accepted and agreed to by the Council of States, such a Bill shall not be brought back to the House of the People but shall be deemed to have been passed by both Houses of Parliament and shall forthwith sent up for the assent of the President be inserted respectively.

and

That after clause (5) of article 87, the following new clauses be inserted:

''(6) A Bill which is pending at any stage in the House of the people but not passed at the time of its dissolution shall be deemed to have lasped on a dissolution of the House of the People.

[प्रो. के.टी. शाह]

(7) A Bill which has been passed through all the stages by the House of the People before its dissolution, but not sent to the Council of States at the time of its dissolution, shall be taken up by the Council of States passed by the House of the People, and if agreed to in identical form within 30 days of the dissolution of the House of the People shall be deemed to have been duly passed by both Houses of Parliament, and shall be sent up to the President for his assent.

(8) A Bill pending in the Council of States at any stage but not considered by the House of the People shall not be deemed to have been passed at the time the House of the People is dissolved, but shall be deemed to have lapsed on dissolution of the House of the People.''

यह संशोधन आगारों के समय की बचत के लिये और ससंद के समक्ष आने वाले विधि विषयक प्रस्तावों को कानूनी रूप देने में कार्य-पद्धति में सहूलियत लाने के लिए ही रखे जा रहे हैं। हो सकता है कि कोई विधेयक राज्य-परिषद् द्वारा सभी सीढ़ियों में समुचित रूप से पारित हो जाये पर उसे लोक सभा के समक्ष भेजने के पहले यह अवस्था उत्पन्न हो कि लोक सभा का विघटन हो जाये। मेरा सुझाव यह है कि ऐसे विधेयक को सर्वथा व्यपगत न समझा जाना चाहिए और अगर नई लोक सभा राज्य-परिषद् द्वारा पास किये हुए रूप में उसे स्वीकार कर ले तो यह समझा जाना चाहिए कि वह संसद के दोनों आगारों द्वारा पास हो गया है। और फौरन प्रधान के पास अनुमति के लिए भेज देना चाहिये। मतलब यह है कि नई लोक सभा द्वारा जब वह सभी सीढ़ियों से पास हो जाये तो उसे फिर राज्य-परिषद् के पास एक नये विधेयक के रूप में वापिस न किया जाये और उसे राज्य-परिषद् फिर अपनी सभी सीढ़ियों से गुजर कर पास न करे।

मैं समझता हूं कि यह एक तर्कसंगत सुझाव है, विशेषतया इस बात का ख्याल रखते हुए कि दोनों ही आगारों को धन विधयकों को छोड़कर अन्य सभी विधेयकों को पुनःस्थापित करने की समान क्षमता प्राप्त है। व्यवहार में यह बात हो सकती है कि महत्त्वपूर्ण विधि विषयक प्रस्ताव नीचे वाले आगार से ही शुरू हों। अगर यह विधेयक लोक सभा के विघटन होने तक पास नहीं हो जाते हैं, तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि जो भी प्रस्ताव वहां लम्बमान होंगे, वह सब व्यपगत समझे जायेंगे। किन्तु अगर ऐसा हो कि किसी विधेयक को लोक सभा अपने विघटन के पहले सभी सीढ़ियों में पास कर चुकी है और उसे ऊपर वाले आगार के पास न भेज पाई है, तो यह न समझा जाना चाहिये कि विधेयक व्यपगत

हो गया है। क्योंकि लोक सभा उसे समुचित रूप से पारित कर चुकी है। राज्य-परिषद् उसे आगे ले सकती है और सभी सीढ़ियों में उस पर विचार कर सकती है और अगर लोक सभा द्वारा पारित रूप में ही उस विधेयक को वह स्वीकार कर लेती है तो फिर विघटन के वाद निर्वाचित नई लोक सभा के पास उस विधेयक को भेजने की कोई जरूरत नहीं है।

मैं ऐसी भी अवस्था की कल्पना कर सकता हूं जिसमें यह दशा उत्पन्न हो सकती है। यानी यह कि किसी विधेयक को जल्दी-जल्दी में लोक सभा अपने विघटन से पहले, आखिरी दिन, पास कर दे और ऊपर वाला आगार लोक सभा से सहानुभूति रखते हुए उसे सभी सीढ़ियों से पास कर दे, पेश्तर इसके कि नई लोक सभा उस मसले को अपने हाथ में ले। इस तरह की कठिनाइयां उठ सकती हैं और खास करके उस दशा में जब कि नई लोक सभा में एक भिन्न पार्टी का प्राधान्य हो जिसका विघटित लोक सभा में प्राधान्य नहीं था। ऐसी सूरत में हमें यह भय न होना चाहिये कि जनता की इच्छा के मुताबिक काम न होगा। क्योंकि संभव है कि राज्य-परिषद् पूर्वगामी लोक सभा द्वारा पास किये हुए विधेयक को पास ही न करे और अगर वह उसे पास कर भी दे तो प्रधान संभव है उस पर अपनी अनुमति न दे। इसके अलावा नई लोक सभा ऐसा भी विधेयक पास कर सकती है, जो पूर्वगामी लोक सभा द्वारा आखिरी दिन पास किये गये विधेयक को रद्द कर देता हो अथवा उसका अभिशून्यन कर देता हो। मेरा ख्याल है कि मेरे इस संशोधन के पास होने से एक तो समय की बचत होगी, दूसरे कार्य-पद्धति में सरलता आ जायेगी और आखिरी बात यह है कि फिर दुहरा काम न करना पड़ेगा।

इसमें शक नहीं कि यह सब जाब्ते की बातें हैं जिसे संसद का कोई भी आगार नियमों द्वारा तय कर सकता है। किन्तु जब विधान में इस तरह के आदेश लिपिबद्ध किये जाते हैं, तो मेरा भी संशोधन अगर आ जाता है, तो इससे समय में बड़ी बचत होगी। सभा से इसे स्वीकार करने की मैं सिफारिश करता हूं।

***अध्यक्षः** प्रो. शिब्बनलाल सक्सेना की ओर से मुझे कई संशोधनों की सूचना मिली है।

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेना** (संयुक्तप्रांतः जनरल): मेरे दो संशोधन हैं, श्रीमान्! एक तो अनुच्छेद 87 के संबंध में और दूसरा 88 के संबंध में। अनुच्छेद 87 संबंधी संशोधन को मैं नहीं पेश कर रहा हूं।

***अध्यक्षः** बस इतने ही सब संशोधन हैं जो हमें प्राप्त हुए हैं। अब संशोधन और मूल अनुच्छेद पर बहस की जा सकती है।

***श्री बृजेश्वर प्रसाद** (बिहार : जनरल): अध्यक्ष महोदय, मैं अनुच्छेद 87 के खंड (2) के विरुद्ध, जिसमें कहा गया है कि कोई भी विधेयक संसद द्वारा पास न समझा जायेगा, जब तक कि उस पर दोनों सदन सहमत न हो जायें, मैं नहीं समझता कि लोकतंत्रीय राज्य में जनता के प्रतिनिधियों को उन लोगों के बराबर क्यों रखा जाता है, जिन्हें प्रांतीय सरकारों ने मनोनीत करके प्रतिनिधि रूप से भेजा है। अगर लोकतंत्रीय पद्धति को सुचारू

[श्री बृजेश्वर प्रसाद]

रूप से चलाना है, तो नीचे वाले आगार की प्रधानता हमें स्वीकार करनी ही होगी। यह कहा गया है कि यह खंड उन संघीय सिद्धांतों से सर्वथा संगत है जिनको हम शुरू में मान चुके हैं। जहां तक मेरा अपना संबंध है, श्रीमान्, मैं नहीं समझता कि यहां कोई ऐसा तर्क क्यों पेश किया जाता है। मैं ऐसा नहीं समझता कि विधान के मसौदे का स्वरूप शुद्धतः संघीय है। जब हमने संघमूलक व्यवस्था को रखना स्वीकार किया था, उस समय हमारे देश में जो स्थिति थी, वह आज से सर्वथा भिन्न थी। प्रांतों को राजी रखने के लिये हमने संघीय व्यवस्था को नहीं स्वीकार किया था। जब हम ने संघमूलक व्यवस्था को स्वीकार किया था, उस समय हमारे मन में प्रांतों का कोई ख्याल था ही नहीं। संघमूलक व्यवस्था को तो हमने स्वीकार किया था इसलिए कि स्वर्गीय मिस्टर जिन्ना के द्विराष्ट्र संबंधी सिद्धांत का हम जवाब दे सकें। संघमूलक शासन-व्यवस्था को हमने इसलिए स्वीकार किया था कि देशी रजवाड़ों को इस बात पर राजी किया जा सके कि अपनी सत्ता का एक अंश वह छोड़ने पर तैयार हो जाये, किन्तु अब तो स्थिति बिल्कुल ही बदल गई है। दुर्भाग्य से देश का बंटवारा हो चुका है। देशी रजवाड़ों को समाप्त कर दिया गया है। रियासतों की स्थिति आज भारतीय प्रांतों से कहीं बदतर है। पिछली बार जब विधान-परिषद् का अधिवेशन हुआ था, तब मैंने एक एकात्मक राज्य-व्यवस्था के पक्ष में अपना विचार व्यक्त किया था। मुझे यह नहीं मालूम है, श्रीमान्, कि हमारे वैधानिक पंडितों के मन में क्या है। संघमूलक व्यवस्था का झुकाव आगे चलकर एकात्मक व्यवस्था की ओर अवश्य हो जाता है। मेरी जानकारी में इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है, जिसमें एकात्मक राज्य व्यवस्था बिगड़ करके संघमूलक व्यवस्था में बदल गई हो। किन्तु जहां तक संघमूलक व्यवस्था का संबंध है, प्रायः सभी संघीय व्यवस्था वाले देशों के विधान एकात्मक राज्य व्यवस्था की ओर झुक गये हैं। केन्द्र में दूसरे आगार की कल्पना जो मैं करता हूं वह केवल एक परामर्शदातृ सभा के ही रूप में। वह इसीलिये होगा कि जल्दबाजी में कोई कानून पास न किया जा सके। किन्तु मेरी समझ में संघीय विधान पर जोर देना प्रगति से पीछे की ओर जाना होगा और जो लोक संघीय स्वरूप की चर्चा करते हैं और उस पर जोर देते हैं मेरी समझ में देश का बड़ा अहित कर रहे हैं। प्रांत सदा ही केन्द्रीय शासन के अधीन रहे हैं और यह कहना कि उन्हें स्वायत्त शासन प्राप्त हो गया है और उन्हें संघीय अधिकार प्राप्त हो गये हैं, वस्तुतः प्रगति से पीछे की ओर जाना है। मैं तो कहूंगा, श्रीमान्, कि संघमूलक व्यवस्था पर जोर देकर हम इतिहास के क्रम को उलट रहे हैं। संघमूलक व्यवस्था का स्वरूप ही बड़ा दकियानूसी है और इसमें तमाम कमजोरियां भरी हैं। मैं अनुच्छेद 87 के खंड (2) का विरोध करता हूं, श्रीमान्!

***अध्यक्षः** प्रस्ताव यह है कि:

> ''अनुच्छेद 87 के खंड (1) के पहले निम्नलिखित नया खंड जोड़ दिया जाये:
>
> '(1) संसद के किसी आगार को अधिकार होगा कि भारत की जनता अथवा भारतीय संघ के अंगभूत किसी प्रदेश (इकाई) की जनता की ओर से आये हुए प्रार्थना-पत्र या अर्जी को वह ग्रहण करें।' ''

संशोधन नामंजूर हुआ।

***अध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 87 के खंड (5) में 'कोई विधेयक जो' शब्दों के बाद 'राज्य-परिषद् द्वारा पारित हो चुका है' तथा 'लोक सभा में लम्बमान है' शब्दों के बाद 'वह लोक सभा के विघटन पर व्यपगत न समझा जायेगा बल्कि ऐसे विघटन के बाद जो नई लोक सभा निर्वाचित हो, वह उसको जिस स्थिति में कि लोक सभा के विघटन के समय वह था, उससे आगे ले सकते हैं; तथा राज्य-परिषद् में जिस रूप में उसे पारित किया था, यदि उसी रूप में लोक सभा उसे स्वीकार कर लेती है, तो वह विधेयक संसद के दोनों आगारों द्वारा समुचित रूप से पारित समझा जायेगा और अनुमति के लिए फौरन उसे प्रधान के पास भेज दिया जायेगा।

जिस रूप में राज्य-परिषद् ने विधेयक को पारित किया था।, उसमें अगर लोक सभा ने कोई संशोधन किया तो वह राज्य-परिषद् को लौटा दिया जायेगा और अगर लोक सभा द्वारा किये गये संशोधनों को राज्य-परिषद् स्वीकार कर लेती है, तो उस सूरत में विधेयक लोक सभा में वापिस न लाया जायेगा किन्तु संसद के दोनों आगारों द्वारा वह पारित समझा जायेगा और अनुमति के लिये प्रधान के पास भेज दिया जायेगा।' शब्द क्रमश: रखे जाये।''

संशोधन अस्वीकृत हुआ।

***अध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 87 के खंड (5) के बाद निम्नलिखित नये खंड जोड़ दिये जायें–

'(6) कोई विधेयक जो किसी भी व्यवस्था में लोक सभा में लम्बमान है, पर विघटन के समय तक वहां पारित नहीं हो सका है, तो वह लोक सभा के विघटन पर व्यपगत समझा जायेगा।

(7) कोई विधेयक जो लोक सभा द्वारा, उसके विघटन के पहले, सभी सीढ़ियों में पारित हो चुका है, किन्तु विघटन के समय तक राज्य-परिषद् को नहीं भेजा गया है, वह लोक सभा द्वारा पारित रूप में राज्य-परिषद् द्वारा लिया जायेगा और अगर लोक सभा के विघटन के 30 दिनों के भीतर वह उसी रूप में स्वीकृत हो जाता है, तो वह संसद के दोनों आगारों द्वारा समुचित रूप से पारित समझा जायेगा और अनुमति के लिये प्रधान के पास भेज दिया जायेगा।

(8) राज्य-परिषद् में किसी भी दशा में लम्बमान कोई विधेयक, जिस पर लोक सभा ने विचार नहीं किया है, लोक सभा के विघटन के समय उस सभा द्वारा पास न समझा जायेगा, किन्तु लोक सभा के विघटन के साथ उसे व्यपगत समझा जायेगा।' ''

संशोधन नामंजूर हुआ।

---

*इसका अंग्रेजी रूप पहले दिया जा चुका है।

***अध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 87 को विधान का अंग समझा जाये।''

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

अनुच्छेद 87 विधान में जोड़ा गया।

अनुच्छेद 88

***अध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 88 को विधान में शामिल किया जाये।''

(संशोधन नं. 1644 पेश नहीं किया गया।)

***श्री एच.वी. कामत** (मध्यप्रान्त और बरार : जनरल): अध्यक्ष महोदय, मैं यह प्रस्ताव उपस्थित करता हूं कि:

''अनुच्छेद 88 के 'यदि किसी विधेयक के' शब्दों के बाद 'जो मुद्रा विधेयक या आर्थिक विधेयक नहीं है' शब्द जोड़ दिये जायें।''

***श्री एम. अनन्तशयनम् आयंगर:** माननीय सदस्य से मैं कहूंगा कि अनुच्छेद 88 की परन्तुका को देखें जिसमें कहा गया है कि: ''पर इस खंड में की कोई बात किसी मुद्रा-विधेयक को लागू न होगी।''

***श्री एच.वी. कामत:** तब तो इस परन्तुका को ही बदल देना चाहिये। मेरा यह संशोधन कम या बेशी महज रस्मी है किन्तु इससे अनुच्छेद में स्पष्टता आ जाती है। लाघव तो मैं भी चाहता हूं पर ऐसा नहीं कि उससे स्पष्टता ही जाती रहे। अनुच्छेद 89 और 97 मुद्रा विधेयक और अन्य विधेयकों से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये जब हम अनुच्छेद 88 में किसी विधेयक का जिकर करते हैं तो यह ज्यादा अच्छा होगा और यह ज्यादा साफ भी होगा कि हम इस बात को उसमें साफ-साफ कह दें कि जिस विधेयक का इस अनुच्छेद में जिकर है वह मुद्रा-विधेयक या वैत्तिक विधेयक से भिन्न विधेयक है। मेरे माननीय मित्र श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने ठीक ही सुझाया है—और मैं उनका इसके लिये आभारी हूं—कि इस अनुच्छेद के खंड (1) के नीचे एक परन्तुका दी हुई है जिसमें मुद्रा विधेयक के सम्बन्ध में अपवाद रखा गया है। किन्तु अनुच्छेद 87 में जो भाषा व्यवहृरित की गई है वह यों है: ''मुद्रा विधेयकों तथा अन्य आर्थिक विधेयकों के विषय में इस

संविधान के अनुच्छेद 89 और 97 के प्रावधानों के अधीन रहते हुए इत्यादि।'' इसलिये अगर हम यह चाहते हैं कि हमारी भाषा में और पद-संहति में एकरूपता रहे, तो मैं समझता हूं और मेरा ख्याल है कि श्री आयंगर भी इससे सहमत होंगे—कि परन्तुका की भाषा भी अनुच्छेद 87 की भाषा के अनुरूप ही होनी चाहिये थी। अनुच्छेद 87 में न केवल मुद्रा विधेयकों का ही जिक्र है बल्कि मुद्रा विधेयक और अन्य आर्थिक विधेयकों का भी जिक्र है, इसलिये अगर श्री आयंगर मेरे संशोधन के आधार पर इस परन्तुका में कोई संशोधन पेश करें तो मैं उसे स्वीकार करने के लिये तैयार हूं।

***अध्यक्ष:** पर अगर आपका संशोधन स्वीकार हो जाता है और परन्तुका नहीं हटाई जाती है, तो इस सूरत में क्या स्थिति होगी? परन्तुका को हटाने के लिये कोई संशोधन तो आया नहीं है।

***श्री एच.वी. कामत:** मैं समझता हूं कि यह बहुत ही बुरा होगा। परन्तु जब तक कि परन्तुका में समुचित संशोधन नहीं हो जाता है, उसमें एक खामी सी रहेगी। अगर आप श्री आयंगर को या अन्य किसी सदस्य को परन्तुका में समुचित संशोधन पेश करने की अनुमति दें, जिसमें परन्तुका में उल्लिखित आर्थिक विधेयक और मुद्रा विधेयकों का भी समावेश हो, तो मैं समझता हूं कि मेरी आपत्ति का निराकरण हो जायेगा। अन्यथा मुझे आशंका है कि उसमें एक ऐसी त्रुटि रह जायेगी, जिससे दोनों अनुच्छेदों में प्रयुक्त भाषा में साम्य न रह जायेगा।

***श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका** (पश्चिमी बंगाल : जनरल): अनुच्छेद 88 के खंड (1) की परन्तुका को हटाने के लिये एक संशोधन दिया गया है जिसका नम्बर है 1649।

***श्री एच.वी. कामत:** तब तो अगर वह संशोधन स्वीकार हो जाये और मेरा संशोधन स्वीकार हो जाये तो काम अच्छी तरह बन जाता है। इसलिये मैं अपना संशोधन पेश करता हूं।

(संशोधन नम्बर 1646, 1647, 1648 और 1649 पेश नहीं किये गये।)

***माननीय डा. बी.आर. अम्बेडकर:** मैं यह प्रस्ताव रखता हूं, श्रीमान्:

> ''अनुच्छेद 88 के खंड (2) में 'दोनों आगारों' शब्दों की जगह 'उस खंड के उपखंड (ग) में उल्लिखित आगार' शब्द रखे जाये। यह केवल स्पष्टीकरण के लिये ही रख रहा हूं।

***अध्यक्ष:** संशोधन नम्बर 1651। मेरा ख्याल है कि यह संशोधन पहले के संशोधनों में आ जाता है।

(संशोधन नम्बर 1652 पेश नहीं किया गया है।)

***माननीय डा. बी.आर. अम्बेडकरः** मेरा यह प्रस्ताव है श्रीमान्, कि:

''अनुच्छेद 88 के खंड (2) में अन्त में आये हुये 'दिनों' शब्द के पहले 'निरन्तर' शब्द जोड़ दिया जाये।''

(संशोधन नम्बर 1654 पेश नहीं हुआ।)

***माननीय श्री के. सन्तानम्:** मैं यह प्रस्ताव रखता हूं, श्रीमान्:

''अनुच्छेद 88 के खंड (4) में 'समस्त' शब्द हटा दिया जाये।''

मैं परन्तुका के हटाने पर जोर नहीं देता हूं। मैं चाहता हूं कि संशोधन में ही उसके लिये संशोधन कर दिया जाये।

बात बहुत सीधी सी है। यहां अभिप्राय यह है कि संयुक्त बैठक का निर्णय साधारण बहुमत द्वारा होना चाहिये। ऐसी स्थितियों के लिये सब जगह आम तौर पर यही शब्द आये हैं कि दोनों आगारों के उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुत से निर्णय होंगे। 'समस्त सदस्य' शब्द तो साधारणत: वहीं पर रखे गये हैं जहां पूर्णरूपेण बहुमत अपेक्षित है।

***माननीय डा. बी.आर. अम्बेडकरः** माननीय मित्र का मैं कृतज्ञ हूंगा, अगर वह इस मसले को मसौदा समिति पर छोड़ दें। मसौदा समिति के विचार के बाद फिर हम इसको यहां आगे लेंगे।

***माननीय श्री के. सन्तानम्:** मैं इससे सहमत हूं, श्रीमान्।

***श्री एच.वी. कामतः** मैं यह प्रस्ताव रखता हूं, श्रीमान्:

''अनुच्छेद 88 के खंड (4) में 'इस संविधान के प्रयोजनार्थ' शब्दों को हटा दिया जाये।''

मैं ऐसा समझता हूं, श्रीमान्, कि इस जगह हम इन शब्दों को हटा सकते हैं और इनके हटाने से यहां अर्थ में कोई अस्पष्टता न आयेगी और न खंड के अभिप्राय की यथार्थता में ही कोई फर्क पड़ेगा। जो भी मसौदा यहां तैयार किया जाता है या जो भी अनुच्छेद यह सभा प्रस्तुत करती है, वह सब इस संविधान के प्रयोजनार्थ ही है। हम संविधान के सम्बन्ध में ही यहां सब कुछ तय कर रहे हैं। निश्चय ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जो यह कहे कि विधान में जो कुछ भी रखा गया है, वह संविधान के प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोजन के लिये है। इसलिए मेरी समझ से यह लिखना, कि चाहे इस अनुच्छेद में हो या अन्य किसी अनुच्छेद में, कि मतगणना को इस संविधान के प्रयोजन

के लिये समझा जायेगा, सर्वथा अनावश्यक और निष्प्रयोजन है। अतः मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि इन शब्दों को, जो कि मेरे ख्याल में अनावश्यक हैं, हटा दिये जायें। इन शब्दों के साथ मैं अपना संशोधन पेश करता हूं।

***अध्यक्षः** अब आता है संशोधन नम्बर 1657। मेरे ख्याल से यह संशोधन सिर्फ रचना से सम्बन्ध रखता है।

(संशोधन नं. 1658 और 1659 पेश नहीं किये गये।)

***श्री टी.टी. कृष्णमाचारीः** मैं समझता हूं कि यह संशोधन रचना से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि इसमें कई शब्दों को, जो अनावश्यक है, हटाने की मांग की गई है।

***अध्यक्षः** संशोधन नं. 1660 रचना विषयक है।

(संशोधन नं. 1661 पेश नहीं हुआ।)

***अध्यक्षः** प्रो. शिब्बन लाल सक्सेना से मुझे एक संशोधन की सूचना मिली है। उनका संशोधन है कि अनुच्छेद 88 की जगह अमुक निम्नलिखित अंश रखा जाये। यह संशोधन तो किसी संशोधन से सम्बन्ध नहीं रखता। किस संशोधन पर यह संशोधन रखा जा रहा है?

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेनाः** उनमें से किसी पर भी यह रखा जा सकता है।

***अध्यक्षः** आप कैसे रखेंगे? यह तो मूल अनुच्छेद पर संशोधन हुआ, किसी संशोधन पर संशोधन नहीं हुआ। समय सम्बन्धी जो नियम है उसे आप केवल यह कहकर चकमा नहीं दे सकते कि ये संशोधन संशोधनों से सम्बन्ध रखते हैं। वस्तुतः यह संशोधन किसी संशोधन के बारे में नहीं है। इसकी सूचना पहले ही आनी चाहिये थी।

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेनाः** संशोधन नं. 1650 पर यह संशोधन रखा गया है।

***अध्यक्षः** तो आप यह कैसे कहते हैं कि समूचे अनुच्छेद 88 की जगह आपके शब्द रखे जायें?

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेनाः** मैं जो सुझाव दे रहा हूं वह यह है कि संयुक्त बैठक का होना जरूरी न किया जाये।

***अध्यक्षः** वह तो एक अलग बात है। मैं आप के अभिप्राय को समझ रहा हूं कि आप संयुक्त बैठक को यहां नहीं रखना चाहते। किन्तु इसके लिये आपको यथा समय सूचना देनी चाहिए थी। संशोधन सम्बन्धी संशोधनों के रूप में आप इसे यहां रखना चाहते हैं, पर इसका सम्बन्ध वस्तुतः अनुच्छेद की मूल बातों से है और यहां वह ठीक बैठता नहीं है।

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेनाः** इस तरह संशोधनों को उपस्थित करने में यहां अब तक तो हमेशा यही पद्धति बरती गई है।

***अध्यक्ष:** मेरा ख्याल है, मैं इस तरह के संशोधनों की अनुमति नहीं दे सकता, जिसका सम्बन्ध वस्तुत: किसी संशोधन से नहीं है।

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेना:** तब अगर इजाजत हो, तो मैं खण्ड पर ही बोलूं, श्रीमान्।

***अध्यक्ष:** हां, यह हो सकता है। अगर सभी संशोधन पेश हो चुके हैं, तो आपको बोलने का मौका दिया जायेगा। हां, अब मूल अनुच्छेद एवं तत्संबंधी संशोधनों पर बहस की जा सकती है।

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेना:** अध्यक्ष महोदय, इस अनुच्छेद में एक प्रावधान इस आशय का रखा गया है कि अगर विधेयकों के सम्बन्ध में नीचे वाले और ऊपर वाले दोनों आगारों में मतभेद हो, तो उस विवाद को तय करने के लिये दोनों की संयुक्त बैठक होगी। इस सम्बन्ध में मैंने एक संशोधन की सूचना दी थी, पर आपने उसे अनियमित करार दे दिया है। किन्तु मेरा ख्याल है कि उस संशोधन का उद्देश्य ऐसा है कि उस पर सभा को विचार करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि मैं ऊपर वाले आगार को कोई एक बहुत अच्छी संस्था नहीं मानता। मैं तो उसके सर्वथा विरुद्ध हूं किन्तु जब सभा ने उसे स्वीकार कर लिया है तो इस सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं कहना चाहता। पर जो मैं बात कहना चाहता हूं, वह यह है कि ऊपर वाले आगार को इतना अधिकार न मिलना चाहिये जो उसके महत्त्व के अनुरूप न हो। हमने अपना विधान ब्रिटिश पार्लियामेंट के आधार पर बनाया है। वहां हाउस आफ लार्डस और हाउस आफ कामन्स दो आगार जरूर हैं किन्तु हाउस आफ लार्डस के अधिकार बड़े ही सीमित है। मैं चाहता हूं कि यहां भी ऊपर वाले आगार को सीमित ही अधिकार प्राप्त रहें। उसे निचले वाले आगार के समान शक्ति नहीं मिलनी चाहिये, जैसा कि संयुक्त बैठक की व्यवस्था होने से उसे प्राप्त हो जायेगी। मौजूदा मसौदे के मुताबिक लोक सभा द्वारा पास विधेयक ऊपर वाले आगार के पास जायेगा और अगर वहां अस्वीकृत हो जाता है, तो दोनों आगारों की संयुक्त बैठक होगी, जिसमें साधारण बहुमत के द्वारा उस मसले का फैसला किया जायेगा। इस तरह ऊपर वाला आगार लोक सभा द्वारा स्वीकृत किये गये किसी विधेयक को अस्वीकार करने में कामयाब हो जायेगा और लोक सभा को साधारण बहुमत द्वारा उस बिल को प्रभाव में लाने का अधिकार न रहेगा। मेरा ख्याल है कि ऊपर वाला आगार, यद्यपि यह प्रान्तीय विधान-मंडलों द्वारा निर्वाचित होगा, लोक सभा को लोक सभा की तरह प्रतिनिधिमूलक नहीं होगा। लोक सभा का चुनाव सीधे जनता करेगी और ऊपर वाले आगार का चुनाव लोक सभा के सदस्य करेंगे और फिर उसमें प्रधान द्वारा मनोनीत किये गये कुछ व्यक्ति भी सदस्य के रूप में रहेंगे। दूसरी बात यह है कि ऊपर वाला आगार एक ऐसा आगार होगा, जिसके एक तिहाई सदस्य हर दूसरे साल चुने जायेंगे। सुतरां उसके शेष दो तिहाई सदस्य नई भावना के प्रतिनिधि न रहेंगे, क्योंकि वे लोग दो और चार वर्ष पहले निर्वाचित हुये रहेंगे। इसलिये मैं समझता हूं कि ऊपर वाला आगार जनता के तत्कालीन विचारों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। ऐसी सूरत में उस आगार को लोक सभा के समान अधिकार देना मेरे ख्याल से एक प्रतिक्रियात्मक बात होगी। अगर हम ऊपर वाले आगार को कुछ हैसियत देना ही चाहते हैं, तो हमें उसे केवल उतना

ही अधिकार देना चाहिये। जो कि इंग्लैंड के हाउस आफ लार्ड्स को सन् 1911 के एक्ट द्वारा प्राप्त हैं। हाउस आफ कामन्स द्वारा पास किये गये बिल को अगर हाउस आफ लार्डस स्वीकार नहीं करता है, उस सूरत में वह बिल एक खास अवधि की समाप्ति पर स्वत: कानून बन जाता है। पर हमारे विधान के अनुसार अगर ऊपर वाला आगार किसी बिल को अस्वीकृत कर देता है, तो उस हालत में दोनों आगारों की संयुक्त बैठक विधेयक के भाग्य का फैसला करेगी। मैं समझता हूं कि जब हमने अपना विधान ब्रिटिश पद्धति पर बनाया है, तो इस मामले में भी हमें ब्रिटेन में प्रचलित पद्धति को स्वीकार करना चाहिये। राज्य-परिषद् अगर किसी विधेयक को अस्वीकार कर दे, तो लोक सभा की राय कायम रहनी चाहिये और विधेयक को कानून का रूप मिल जाना चाहिये। हमें यह ख्याल करने की जरूरत नहीं होनी चाहिये कि राज्य-परिषद् ने उसे अस्वीकार कर दिया है। अगर राज्य-परिषद् किसी विधेयक पर विचार करने में बहुत विलम्ब करे और वह विलम्ब एक निश्चित अवधि के बाहर चला जाये, तो उस सूरत में भी बिल को हमें पास समझना चाहिये। ऊपर वाले आगार को यह स्थिति नहीं प्राप्त होनी चाहिये कि लोक सभा द्वारा पास किये गये किसी विधेयक को वह रद्द कर दे। मैं जिस सिद्धांत की वकालत कर रहा हूं यह बड़ा ही हितकर है। इंग्लैंड में भी जहां ऊपर वाला आगार है, लोगों ने ऊपर वाले आगार की शक्ति को सीमित रखना ही ठीक समझा और लोक सभा के द्वारा जनता ने जो राय जाहिर की, उसको वापिस करने का उसे अधिकार नहीं दिया। संयुक्त बैठक की व्यवस्था करके हम ऊपर वाले आगार को बहुत ही महत्त्वपूर्ण शक्ति दे रहे हैं, जो उन्नति में और जनेच्छा के अनुसार काम करने में रुकावट डालेगी, क्योंकि सम्भवत: जनता यह चाहेगी कि कानून जल्दी पास हो ताकि भारतवर्ष भी अन्य देशों के समकक्ष उन्नत हो जाये।

अपने देश में जब हम इतने पिछड़े हुये हैं, हमें जरूरत इस बात की होगी कि हम जल्दी-जल्दी आगे बढ़ें और हमें ऐसे किसी बन्धन की जरूरत नहीं है जैसा कि इस खंड के जरिये ऊपर वाले आगार की ओर से हमें मिल सकता है। इसलिये मैं यह महसूस करता हूं कि ब्रिटिश पद्धति को हमें यहां स्वीकार करना चाहिये। ब्रिटिश पार्लियामेंट की इस व्यवस्था का कामनवैल्थ के अन्य देशों ने भी अनुकरण किया है। आस्ट्रेलिया में ऊपर वाला आगार किसी बिल पर 6 महीने के अन्दर विचार नहीं करता है, तो लोक सभा ऐसे आशय का प्रस्ताव पास कर देती है कि वह बिल पास हो जाना चाहिये। इंग्लैंड में तो इसकी भी जरूरत नहीं होती है। दोनों ही देशों में एक ही बात चलन में है और वह यह कि लोक सभा की आवाज ही अन्तिम है और ऊपर वाला आगार उसकी आवाज को अस्वीकार नहीं कर सकता। इसलिये आशा है, इस खंड पर विचार करते समय सदस्यगण यह बात ध्यान में रखेंगे कि वे एक ऐसे सिद्धांत रख रहे हैं, जो हमारी समुन्नति में रुकावट डाल सकता है। मैं नहीं चाहता कि यह प्रावधान हमारे विधान को कलंकित करे जिसे हम अपने स्वतंत्र भारतीय लोकतंत्र के लिये स्वीकार करने जा रहे हैं। आशा है कि यह सभा दोनों आगारों की संयुक्त बैठक का जो प्रावधान है, उसे स्वीकार न करेगी और मेरी बातों को ध्यान में रखेगी।

***श्री चिमनलाल चक्कूभाई शाह** (सौराष्ट्र): अध्यक्ष महोदय, श्री सक्सेना द्वारा उपस्थित किये गये संशोधन का मैं विरोध करता हूं।

***अध्यक्ष:** मैंने संशोधन उपस्थित करने की उन्हें अनुमति ही नहीं दी। वह अनुच्छेद के विरुद्ध बोले हैं।

***श्री चिमनलाल चक्कूभाई शाह:** मैं अनुच्छेद के समर्थन में बोलने के लिये खड़ा हुआ हूं। अनुच्छेद 87 में यह कहा गया है कि कोई विधेयक तब तक कानून नहीं बन सकता है, जब तक कि वह दोनों आगारों द्वारा स्वीकृत न हो जाये। यह एक ऐसी चीज है, जिसमें हम लोगों की राय एक है। तब सवाल यह उठता है कि उस सूरत में क्या किया जायेगा जबकि दोनों आगारों में विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद हो। सम्भव है कि हम लोग यह कहें कि मतभेद की हालत में हमको उस मसले को वहीं छोड़ देना चाहिये; विधेयक को व्यपगत हो जाने देना चाहिये और उसे कानून न बनने देना चाहिये। ऐसा करना अमेरिकन पद्धति का अनुकरण करना होगा। किन्तु कुछ लोग हैं, जिनका यह ख्याल है कि हमें विधेयक को छोड़ न देना चाहिये, बल्कि कुछ ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिससे दोनों आगारों का मतभेद दूर किया जा सके। ऐसी व्यवस्था के लिये हमारे सामने दो या तीन तरीके हैं। एक तो हम ब्रिटिश पद्धति का अनुकरण कर सकते हैं, जिसके अनुसार एक निश्चित अवधि के बीत जाने पर लोक सभा द्वारा पास किया हुआ बिल अगर अध्यक्ष उसे प्रमाणीकृत कर देता है, तो वह स्वत: कानून का रूप ग्रहण कर लेता है। दूसरे हम आयरिश पद्धति का भी अनुकरण कर सकते हैं, जिसके अनुसार लोक सभा किसी विधेयक को प्रस्ताव द्वारा दुबारा पास कर दे तो वह कानून बन जाता है। किन्तु इन दोनों देशों का विधान एकात्मक है और हमारा विधान संघात्मक है। इसलिये यह दोनों पद्धतियां हम अपने यहां लागू नहीं कर सकते। संघात्मक विधान में जो ऊपर वाला आगार बनता है, उसमें विभिन्न इकाइयों या राज्यों के प्रतिनिधि रहते हैं वह हाउस आफ लार्डस की तरह नहीं होता जिसमें सदस्य लोग वंश परम्परा के हिसाब से आते हैं और जिसका स्वरूप दकियानूसी है। हम लोगों का जो ऊपर वाला आगार होगा वह ऐसा न होगा, बल्कि उसमें भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रतिनिधि रहेंगे इसलिये वह भी एक तरह से लोक सभा के समान ही प्रतिनिधि-मूलक होगा। केन्द्र में राज्य-परिषद् या ऊपर वाले आगार की जो व्यवस्था की गई है, वह केवल इस उद्देश्य से कि राज्यों की अथवा इकाइयों की वहां आवाज पर्याप्त रूप से प्रतिध्वनित की जा सके। ऐसे सूरत में तीसरा रास्ता जो परिस्थिति को सुलझाने का निकलता है, वह है संयुक्त बैठक का उपाय। इसमें शक नहीं कि यह हल बहुत बड़ा अच्छा हल नहीं है पर सोचने-समझने के बाद जो अच्छा हल मिल सकता है, वह यही हल है। दोनों आगारों की जब संयुक्त बैठक होगी तो सम्भव है कि समझौते के द्वारा वे अपने मतभेद का निपटारा कर लें या फिर लोक सभा के बहुमत के अनुसार ही उसका फैसला होगा। किन्तु यह कहना कि केवल लोक सभा ही किसी विधेयक पर एक मात्र निर्णायक हो सकती है और यह कि एक निश्चित अवधि की समाप्ति पर ऊपर वाले आगार की इस सम्बन्ध में कोई आवाज ही न रह जायेगी, ठीक नहीं है। क्योंकि संघात्मक विधान में ऊपर वाले आगार का उद्देश्य ही यह होता है कि वह विभिन्न इकाइयों की आवाज प्रतिध्वनित करने के लिये प्रतिनिधि रूप में होता है और वे भी जनता के चुने हुए उसी तरह के प्रतिनिधि हैं, जिस तरह कि लोक सभा के सदस्य। इसलिये मेरा कहना यह है कि अनुच्छेद 88 में जो हल रखा गया है, यद्यपि वह एक आदर्शपूर्ण नहीं है, फिर भी वह एक ऐसा अच्छा हल है जिसकी संघात्मक विधान में हम कल्पना कर सकते हैं।

ब्रिटिश पद्धति का अनुसरण करना ठीक न होगा। क्योंकि हाउस आफ लार्ड्स का निर्माण वहां बिल्कुल ही भिन्न तरीके पर होता है, जिसको कि हमने अपने विधान में सोचा भी नहीं है। और ब्रिटिश विधान एकात्मक है और उसे हम अपने संघात्मक विधान में नहीं बिठा सकते हैं। इसलिये मैं अनुच्छेद 88 का समर्थन करता हूं।

***श्री अनन्तशयनम् आयंगर:** माननीय मित्र कामत ने जो बात उठाई है, मैं केवल उसी का उत्तर देने की कोशिश कर रहा हूं, श्रीमान। मैं उनको बताना चाहता हूं कि अनुच्छेद 88 के अन्दर इस आशय की एक परन्तुका है:

''पर इस खंड में कोई बात किसी मुद्रा विधेयक को लागू नहीं होगी।''

पर उनका ख्याल है कि इतना पर्याप्त नहीं है। इसलिये वह ''जो मुद्रा विधेयक या आर्थिक विधेयक नहीं है'' शब्दों को वहां और रखना चाहते हैं, ससम्मान मैं उनसे यही निवेदन करूंगा कि यह शब्द वहां रहने ही नहीं चाहियें। मैं इन कारणों से यह कह रहा हूं। इस अनुच्छेद में मुद्रा विधेयकों और अन्य आर्थिक वैत्तीय विधेयकों में कुछ अन्तर रखा गया है। मुद्रा विधेयक अनुच्छेद 90 में आता है, जिसमें कहा गया है:

> ''इस अध्याय के प्रयोजनार्थ वह विधेयक मुद्रा विधेयक समझा जायेगा, जिसमें निम्नलिखित विषयों में से सब अथवा किसी से सम्बन्ध रखने वाले प्रावधान ही हैं अर्थात्...'' इत्यादि।

केवल इन्हीं बातों का जिस विधेयक में उल्लेख है, उन्हीं के सम्बन्ध में यह पद्धति रखी जा रही है और अन्य आर्थिक विधेयक जिसमें न केवल अर्थ सम्बन्धी ही मामलों का समावेश है बल्कि और बातें भी प्रसंगात् रखी गई हैं, उन विधेयकों के सम्बन्ध में यह पद्धति नहीं लागू होगी, लोक सभा में तो केवल वही विधेयक पुरस्थापित किये जायेंगे, जिसमें सिर्फ उन्हीं बातों का जिक्र है जो अनुच्छेद 90 में दी हुई हैं। जहां तक कि ऊपर वाले आगार का सम्बन्ध है, इन बातों के सम्बन्ध में उसे कोई क्षेत्राधिकार नहीं प्राप्त है। हां, वह इनके सम्बन्ध में केवल सिफारिश के रूप में ही कुछ सुझाव दे सकता है और उसकी सिफारिश लोक सभा के पास भेजी जा सकती हैं। लोक सभा इसकी सिफारिशों को स्वीकार करे या न करे यह उसकी मर्जी पर है। इन दोनों सूरतों में यानी ऊपर वाले आगार की सिफारिशें मंजूर हों या न हों, विधेयक दोनों सभाओं द्वारा पास समझा जायेगा। जहां तक कि अन्य आर्थिक विधेयकों को सम्बन्ध है, उनके लिये दूसरी पद्धति निर्धारित की गई है। और अगर यह प्रश्न खड़ा होता है कि कोई विधेयक शुद्धत: मुद्रा विधेयक है या नहीं, तो उस सम्बन्ध में लोक सभा के अध्यक्ष का निर्णय अन्तिम होगा। इनके अलावा जहां तक अन्य बातों का सम्बन्ध है, उनसे सम्बन्ध रखने वाले विधेयकों को दोनों ही आगारों में पुर:स्थापित किया जा सकता है और दोनों ही आगारों को उनके सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। अनुच्छेद 88 के अधीन केवल मुद्रा विधेयकों को ही ऊपर वाले आगार से छूट दी गई है। अन्य आर्थिक विधेयकों के सम्बन्ध में, जो मुद्रा विधेयक नहीं हैं और जिनमें कि अन्य बातों का भी समावेश है, दोनों ही आगारों को क्षेत्राधिकार प्राप्त रहेगा। मुद्रा विधेयक केवल लोक सभा में ही पुर:स्थापित किये जा सकते हैं और ऊपर

[श्री अनन्तशयनम् आयंगर]

वाला आगार उनके सम्बन्ध में सिफारिश के ही रूप में कोई बात सुझा सकता है। इसलिये मैं कहूंगा कि यह संशोधन अनावश्यक है और इस अधिनियम के पीछे जो योजना है उसके सर्वथा विरुद्ध है। अतः श्री कामत का संशोधन अनियमित है।

***श्री एस. नागप्पा** (मद्रास : जनरल): अध्यक्ष महोदय, इस अनुच्छेद के सम्बन्ध में बोलने का मेरा इरादा तो नहीं था किन्तु मैं मद्रास से आया हूं और मुझे अनुभव है कि दोनों आगार वहां किस तरह काम करते हैं और ऊपर वाला आगार विधि निर्माण सम्बन्धी काम में कैसे रुकावट डालता है, इसीलिये मैं इस सम्बन्ध में कुछ कहने के लिये खड़ा हुआ हूं। जहां तक कि धारा सभा की कांग्रेस पार्टी का सम्बन्ध है, वह कम या बेशी संयुक्त बैठक के रूप में ही बैठा करती है, क्योंकि जिन बिलों को पास करना होता है उस पर वहां विचार-विमर्श कर लिया जाता है। यह सभी जानते हैं कि किसी विधेयक का प्रारम्भ लोक सभा से ही होता है। किन्तु उसकी सदस्य संख्या वहां 215 है। और जब ऊपर वाले आगार के साथ संयुक्त बैठक होती है, तो उसकी आवाज निर्णायक नहीं रह जाती है। इस तरह से लोक सभा द्वारा पास किये गये बिल को ऊपर वाला आगार अक्सर रोक लिया करता है। अगर ऊपर वाला आगार किसी बात से असहमत है, तो वह संशोधन का सुझाव रख सकता है और बिल को लोक सभा के पास वापस भेज सकता है। उस हालत में लोक सभा का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अगर बिल में कोई दोष रह गया हो तो उसे दूर करें। अगर लोक सभा ऊपर वाले आगार से सहमत नहीं होता है, तो एक मतभेद खड़ा होता है और उसी के लिये यहां अनुच्छेद में संयुक्त बैठक का सुझाव रखा गया है। अगर मत-विभाजन में एक तरफ सदस्यों की संख्या काफी ज्यादा है, अर्थात् यों कहिये 100 एक तरफ हैं और डेढ़ सौ एक तरफ तब तो संयुक्त बैठक में लोक सभा ही निर्णायक रहती है। किन्तु ऊपर वाले आगार से सीधे जनता से चुने हुए लोग नहीं आते हैं, आज जिस तरह ऊपर वाले आगार की रचना होती है, उसमें छोटे-छोटे पूंजीपतियों और नौकरशाही के ही प्रतिनिधि आते हैं, और जब भी कोई प्रगतिशील कानून बनाने का प्रयास किया जाता है, देर करने की कोशिश करते हैं।

और कभी-कभी तो लोक सभा द्वारा पास किये गये बिल को नाकाम करने की कोशिश करते हैं। एक साधारण आदमी की हैसियत से और एक अनपढ़ आदमी की हैसियत से इस सम्बन्ध में मैं ऐसा ही महसूस करता हूं। ऊपर वाला आगार हो या न हो, इस सम्बन्ध में प्रान्तीय विधान-मंडल में विचार किया गया था और मैं अरसे तक ऊपर वाले आगार के खिलाफ था। किन्तु अब हम वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव करने जा रहे हैं, जिससे तरह-तरह के लोग विधान-मंडलों में आयेंगे। बहुत से लोक अनुभवशील होंगे और बहुत से ऐसे भी होंगे जिनको कुछ भी अनुभव न होगा। इसलिये यह अच्छा होगा कि हम ऊपर वाले आगार में कुछ अनुभवी राजनीतिज्ञों को सदस्य के रूप में मनोनीत करें जिससे कि हम उनके अनुभव और पथ-प्रदर्शन से लाभ उठा सकें। यही कारण था, जिससे प्रेरित होकर मैंने ऊपर वाले आगार का समर्थन किया था। 1935 के अधिनियम में, मेरे ख्याल से, इस आशय का कोई प्रावधान नहीं था। पर जो भी हो, हम लोगों ने 1935 के अधिनियम को पूरी तरह कार्यान्वित ही नहीं किया। हमें उसका केवल डेढ़ साल का अनुभव मिला। सन् 1937 से लेकर 1939 तक ही हम उस पर अमल कर

सके। इस काल में मैं नहीं समझता कि ऐसा कोई मौका उठा, जिसमें संयुक्त बैठक की नौबत आई हो। किन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूं, विधान-सभा में जो कांग्रेस दल था, वह प्रायः संयुक्त बैठक करके मसलों का फैसला कर लिया करता था। हमने यह भी देखा कि लोक सभा के सदस्यों द्वारा लाये गये प्रगतिशील कानूनों को पास करने में ऊपर वाला आगार रुकावट डालता था या देर कर दिया करता था। किन्तु अब डॉ. अम्बेडकर ने यह समझा दिया है कि ऊपर वाले आगार की अब जैसी रचना होगी उसमें वह न प्रगतिशील कानून के बनाने में रुकावट डालेगा और न देर ही करेगा। ऊपर वाले आगार में जो लोग चुनकर आयेंगे, वह न जमींदार या ताल्लुकेदार होंगे बल्कि उनको लोक सभा के प्रतिनिधि सदस्य ही चुनेंगे। इसलिये अब मैं इससे सहमत हो गया हूं। लोक सभा के सदस्यों को यह जानकारी रहेगी कि ऊपर वाले आगार के लिए किस तरह के आदमियों को चुनकर भेजा जाए। किन्तु इसका मतलब यह नहीं हुआ कि निर्वाचन के बाद भी वे लोग लोक सभा के सदस्यों की मर्जी के मुताबिक ही चलेंगे। वे लोग तो अपनी मर्जी के मुताबिक ही सभा में राय देंगे। हां, प्रगतिशील कानूनों के पास किये जाने में कोई रुकावट न डाली जाये, यह एक विचारणीय बात जरूर है। मेरी राय तो यह है कि इस बात को रोकने के लिये कि लोक सभा जल्दीबाजी में कोई कानून पास न करे, ऊपर वाले आगार के लिये हम एक अवधि जरूर निर्धारित कर दें जिसके अन्दर उसे किसी मसले पर अपना निर्णय कर ही लेना चाहिये। उस अवधि के अन्दर या तो ऊपर वाला आगार लोक सभा द्वारा पास किये गये कानून को पास कर दे या अगर उसमें कोई दोष हो तो उसे दूर करने के लिये लोक सभा के पास उसे वापस भेज दे। अगर लोक सभा फिर भी अपनी बात पर अड़ी रहे और ऊपर वाले आगार की बात को मानने को तैयार न हो, तो उस सूरत में एक निश्चित अवधि के बीतने के बाद बिल स्वतः कानून का रूप ग्रहण कर ले। मेरे ख्याल से यह व्यवस्था संयुक्त बैठक वाली व्यवस्था से ज्यादा अच्छी होगी। जो भी हो, विधान में इस आशय का एक प्रावधान है कि दस वर्ष के बाद अगर जनता विधान के किसी खंड या अनुच्छेद में कोई परिवर्तन करना जरूरी समझे तो वह ऐसा कर सकती है। कहावत भी है कि 'अभ्यास करते-करते ही मनुष्य पारंगत होता है'। कुछ समय बाद आने वाले विधान-मंडलों में जनता के वास्तविक प्रतिनिधि आयेंगे और वे ऐसी स्थिति में रहेंगे कि वह इस बात को जान सकें कि इस खंड को लेकर उनको क्या-क्या कठिनाइयां होंगी और तदनुसार वह उसमें सुधार कर सकते हैं। इन शब्दों के साथ मैं अपनी बात खत्म करता हूं।

***माननीय डॉ. बी.आर. अम्बेडकरः** एक ही ऐसा संशोधन है, श्रीमान्, जिसके सम्बन्ध में उत्तर के रूप में कुछ कहना जरूरी है और वह संशोधन है, माननीय मित्र श्री कामत का संशोधन नं. 1656, जिसमें उन्होंने कहा है कि ''इस संविधान के प्रयोजनार्थ'' शब्द हटा दिये जाने चाहियें। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि यह शब्द बड़े ही जरूरी हैं और वहां अवश्य रहने चाहियें। मैं यह क्यों कह रहा हूं यह बात आपको अनुच्छेद 87 (2) तथा अनुच्छेद 91 के प्रावधानों में मिल जायेगी। अनुच्छेद 87 के खंड (2) के अनुसार कोई विधेयक प्रत्येक आगार द्वारा पृथक्-पृथक् बैठकों में स्वतंत्र रूप से पास होना चाहिये। इतना हो जाने के बाद इस संविधान के अनुसार कोई विधेयक अनुच्छेद 91 के अधीन प्रधान के पास स्वीकृति के लिये भेजा जायेगा। माननीय मित्र कामत यह देखेंगे

[माननीय डा. बी.आर. अम्बेडकर]

कि अनुच्छेद 88 के प्रावधान उन प्रावधानों के विपरीत पड़ते हैं, जो अनुच्छेद 87 (2) में रखे गये हैं। इसलिये यहां यह व्यक्त करना जरूरी है कि संयुक्त बैठक में स्वीकृत होने पर विधेयक प्रधान के पास भेजा जायेगा।

इसलिये मेरा कहना है कि ''इस विधान के प्रयोजनार्थ'' इन शब्दों का रखना मेरे ख्याल से बहुत जरूरी है और इन्हें हम अनावश्यक नहीं समझ सकते।

अनुच्छेद 88 में रखे गये प्रावधानों के सम्बन्ध में जो कई वक्ताओं ने कुछ बातें कहीं हैं उनके सम्बन्ध में मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूं कि उन्होंने जो आशंका व्यक्त की है, उसके लिये कुछ आधार जरूर हैं। लेकिन जैसा कि मेम्बरों ने कहा है यह प्रावधान एक बिलकुल ही नई चीज है, ऐसी बात नहीं है। अन्य कई विधानों में भी यह प्रावधान है। इसलिये मेरा सुझाव यही है कि अनुच्छेद को ज्यों का त्यों रहने दिया जाये और हम यह देखेंगे कि आगे चलकर कालक्रम से इसका क्या प्रभाव पड़ता है? अगर उनकी आशंका सही उतरती है, तो मुझे शक नहीं कि कुछ माननीय सदस्य अवश्य ही इस अनुच्छेद के संशोधन के लिये आगे आवेंगे और विधान के संशोधन के लिये हमने जो पद्धति रखी है उसके अनुसार उसे संशोधित करायेंगे।

***श्री एच.वी. कामत:** श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने मेरे संशोधन नम्बर 1645 के सम्बन्ध में जो प्रकाश डाला है, उसको मद्देनजर रखते हुए मैं इसे वापस लेने की अनुमति चाहता हूं।

सभा की स्वीकृति से संशोधन वापस लिया गया।

***अध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 88 के खंड (2) में 'दोनों आगारों' शब्दों की जगह 'उस खंड के उपखंड (ग) में उल्लिखित आगार' शब्द रखे जायें।''

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

***अध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 88 के खंड (2) में, अन्त में आये हुए 'दिनों' शब्द के पहले 'निरन्तर' शब्द जोड़ दिया जाये।''

संशोधन स्वीकृत हुआ।

***श्री एच.वी. कामत:** माननीय डॉ. अम्बेडकर के स्पष्टीकरण को दृष्टि में रखते हुए मैं संशोधन नम्बर 1656 को वापिस लेने की सभा से अनुमति चाहता हूं।

सभा की अनुमति से संशोधन वापस लिया गया।

***अध्यक्ष:** इस अनुच्छेद के सम्बन्ध में जो संशोधन रखे गये थे वे दोनों ही स्वीकृत हो चुके हैं। अब मैं संशोधित अनुच्छेद पर राय लूंगा। प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 88, अपने संशोधित रूप में, विधान में जोड़ा जाए।''

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

अनुच्छेद 88 संशोधित रूप में विधान में जोड़ा गया।

अनुच्छेद 89

***अध्यक्षः** मैं समझता हूं कि संशोधन नं. 1662 केवल शाब्दिक है और मसौदे के अन्य प्रावधानों के अन्दर वह आ जाता है।

***प्रो. के.टी. शाहः** नीचे वाले आगार का जो इस निश्चित विशेषाधिकार या अधिकार प्राप्त रहता है उसका इस संशोधन में दृढ़तापूर्वक उल्लेख किया गया है। मैं नहीं समझ पाता कि इस अधिकार का निषेधात्मक रूप में क्यों उल्लेख किया जाये।

***अध्यक्षः** वह अधिकार तो नीचे वाले आगार को प्राप्त है ही। विधान के प्रावधानों से उनका हरण तो होता नहीं है।

***श्री एच.वी. कामतः** प्रारम्भ में ही मुझे वह बात दुहरा देनी पड़ती है जिसका कि मैंने कल यहां जिक्र किया था। मैंने इन संशोधनों को दो पृथक् संशोधनों के रूप में भेजा था किन्तु दुर्भाग्य से वह एक में मिला दिये गये हैं। विधान-परिषद् कार्यालय कार्यभार से व्यक्त हैं और उसे मैं इसके लिये दोषी नहीं ठहराता हूं। मैं संशोधन के केवल दूसरे भाग को ही पेश करने की अनुमति आप से चाहता हूं।

मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि:

> ''अनुच्छेद 82 के खण्ड (1) में 'राज्य परिषद् में... पुरःस्थापित न किया जायेगा' (not be introduced in the Council of States) शब्दों की जगह 'राज्य परिषद् में... पुरःस्थापित किया जायेगा' (be introduced in the Council of States) शब्द रखे जायें।''

***अध्यक्षः** यह संशोधन तो महज रस्मी है।

***श्री एच.वी. कामतः** अवश्य ही, मैं यह स्वीकार करता हूं, श्रीमान्, कि यह संशोधन सिर्फ रस्मी है और इसलिये मैं इसे मसौदा-समिति पर छोड़ता हूं।

(संशोधन नं. 1664 पेश नहीं किया गया।)

***श्री टी.टी. कृष्णमाचारीः** मैं यह प्रस्ताव रखता हूं, श्रीमान् कि:

> ''अनुच्छेद 89 में 'तीस दिन' शब्द जहां कहीं भी आये हैं, उनकी जगह 'इक्कीस दिन' शब्द रखे जायें।''

संशोधन का अभिप्राय यह है कि जब मुद्रा विधेयक लोक सभा द्वारा स्वीकृत हो जाता है तो वह राज्य-परिषद् की सिफारिशों के लिये उसके पास जायेगा। हो सकता है कि अमल में वस्तुतः हमें सात दिन से भी कम लगें। तीस दिनों की अवधि अधिकाधिक रूप में रखी गई थी। जब हम लोगों ने यह संशोधन बनाया था उस समय हम किफायतन इक्कीस दिन से भी कम अवधि रखना चाहते थे। किन्तु अब मेरा ख्याल है कि 14 दिनों की या एक पखवाड़े की अवधि सभी तरह की विशेष स्थितियों के लिये पर्याप्त

[श्री टी.टी. कृष्णमाचारी]

होगी। यदि डा. अम्बेडकर राजी हों और सभा की अनुमति हो तो ''इक्कीस दिन'' के बजाय ''चौदह दिन'' शब्द रख दूं क्योंकि हमारे प्रयोजन के लिये यह अवधि पर्याप्त है। इन शब्दों के साथ मैं यह संशोधन उपस्थित करता हूं, श्रीमान्।

***अध्यक्ष:** श्री नजीरूद्दीन अहमद के नाम में दो संशोधन हैं (नं. 1666, 1667)। इनका सम्बन्ध मुख्यत: अनुच्छेद की वाक्य रचना से है।

इस तरह इस अनुच्छेद पर केवल एक ही संशोधन है जो श्री कृष्णमाचारी का है। अब अनुच्छेद पर वाद-विवाद प्रारम्भ किया जा सकता है।

***माननीय डा. बी.आर. अम्बेडकर:** माननीय मित्र श्री टी.टी. कृष्णमाचारी ने जो संशोधन रखा है, श्रीमान्, मैं उसे स्वीकार करता हूं। अवधि को और घटाकर जो चौदह दिन का सुझाव रखा गया है मैं उसे भी मंजूर कर लूंगा। अगर सभा मुझे इस आशय का संशोधन रखने की अनुमति दे तो मैं प्रस्ताव रखूंगा कि संशोधन में रखी हुई इक्कीस दिन की अवधि को घटाकर चौदह दिन कर दिया जाये। जिन कारणों से मैं यह परिवर्तन का सुझाव दे रहा हूं मैं उन्हें भी बतायें देता हूं। ब्रिटिश पार्लियामेंट में ऐसा होता है कि लोक सभा (House of Commons) जो भी वित्त सम्बन्धी प्रावधान पास करती है उस पर हाउस आफ् लाड्र्स केवल अपनी सहमति दे देता हूं। जहां तक कि वित्त सम्बन्धी प्रावधानों का सम्बन्ध है, हाउस आफ लाड्र्स ने अपने अधिकार का पूर्णत: परित्याग ही कर दिया है। हम यहां यह स्थिति नहीं रख रहे हैं। कर सम्बन्धी या वैत्तीय प्रस्तावों के सम्बन्ध में जो कि लोक सभा में पुन: स्थापित किये जायेंगे, हम ऊपर वाले आगार को अपनी बात कहने का अधिकार दे रहे हैं। जैसा कि मैं कह चुका हूं, हम ऊपर वाले आगार को एक विशेषाधिकार दे रहे हैं जो साधारणत: उन्हें कहीं प्राप्त नहीं है। पर साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि बजट सम्बन्धी प्रस्ताव बहुत ही आवश्यक होते हैं। आज भी, जैसा कि सदस्यों को मालूम है, लोक सभा को हम वित्त सम्बन्धी विधेयकों के लिये छ: या आठ दिनों से ज्यादा समय नहीं देते हैं। तीस दिन या इक्कीस दिन की अवधि देने का नतीजा, मेरी समझ से, यह होगा कि वित्त विधेयक, जो कि महत्त्वपूर्ण होता है, बहुत दिनों तक खटाई में पड़ा रह जायेगा। अगर ऊपर वाला आगार उस पर अपनी राय देना चाहता है तो इसके लिये, मेरी राय में, चौदह दिनों की अवधि पर्याप्त से भी अधिक है।

***अध्यक्ष:** मूल प्रस्ताव यह है कि:

> ''अनुच्छेद 89 में 'तीस दिन' शब्द जहां भी आये हैं उनकी जगह 'इक्कीस दिन' शब्द रखे जायें।''

इस पर एक और संशोधन यह रखा गया है कि ''इक्कीस दिन'' की जगह ''चौदह दिन'' रखा जाये। संशोधन इस प्रकार है:

> ''संशोधन में 'इक्कीस दिन' शब्दों की जगह 'चौदह दिन' शब्द रखे जाये।''

प्रस्ताव यह है कि:

> ''संशोधन पर रखे गये संशोधन को स्वीकार किया जाये।''

संशोधन स्वीकार किया गया।

***अध्यक्ष:** प्रस्ताव यह है कि:

''संशोधित संशोधन स्वीकार किया जाये।''

संशोधन मंजूर हुआ।

***अध्यक्ष:** अब प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 89 को, उसके संशोधित रूप में, स्वीकार किया जाये।''

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

अनुच्छेद 89 को संशोधित रूप में, विधान में शामिल किया गया।

अनुच्छेद 90

***अध्यक्ष:** अब हम अनुच्छेद 90 को लेते हैं।

(संशोधन नं. 1668 पेश नहीं किया गया।)

***श्री घनश्याम सिंह गुप्त** (मध्यप्रांत और बरार): श्रीमान्, मैं यह प्रस्ताव उपस्थित करता हूं कि:

''अनुच्छेद 90 के खंड (1) से 'ही' (only) शब्द निकाल दिया जाये।''

यह अनुच्छेद भारत शासन अधिनियम की धारा 37 का प्रतिरूप है जिसमें यह कहा गया है कि कोई विधेयक या संशोधन जिसमें कर वृद्धि की या कर लगाने की अथवा ऋण लेने इत्यादि-इत्यादि, की व्यवस्था की गई हो वह बिना गवर्नर जनरल की सिफारिश के पुर:स्थापित या प्रस्तावित न किया जायेगा। इसका मतलब यह हुआ कि यह जरूरी नहीं है कि विधेयक केवल मुद्रा विधेयक ही हो। उसमें और बातें भी हो सकती हैं पर अगर कर या ऋण सम्बन्धी कोई प्रावधान है तो वह धारा 37 के अन्दर आयेगा और उसके लिये गवर्नर जनरल की सिफारिश जरूरी होगी। इस अनुच्छेद 90 में यह कहा गया है कि विधेयक तभी मुद्रा विधेयक समझा जायेगा जबकि उसमें केवल कर या ऋण लेने आदि के ही प्रावधान हों। इसका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि कोई विधेयक जिस में कर और ऋणादि के प्रावधान के साथ ही अन्य और बातों से सम्बन्ध रखने वाले प्रावधान हैं तो वह मुद्रा विधेयक नहीं माना जायेगा। अगर यही प्रयोजन है तब तो मुझे कुछ नहीं कहना है पर अगर प्रयोजन यह नहीं है तो मैं यह जरूर कहूंगा कि यहां 'ही' (only) शब्द बड़ा गोलमाल पैदा कर सकता है क्योंकि विधेयक में इन सब बातों के साथ-2 अन्य किसी बात का भी प्रावधान है तो वह मुद्रा विधेयक न माना जायेगा। मसौदा समिति का क्या अभिप्राय है यह तो मैं नहीं जानता पर मेरी समझ से अनुच्छेद के इस पहलू का हमें अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

(संशोधन नं. 1670 और 1671 पेश नहीं किये गये।)

***प्रो. के.टी. शाह:** मैं यह प्रस्ताव उपस्थित करता हूं, श्रीमान्, कि:

''(क) अनुच्छेद 90 के खंड (1) के उपखंड में 'किसी कर' शब्दों के आगे और

[प्रो. के.टी. शाह]

'का' के पहले शुल्क, भारदर' या अन्य किसी रूप के राजस्व, आय का सरकारी प्राप्ति अथवा सरकारी व्यय' शब्द जोड़े जायें; तथा

(ख) अनुच्छेद 90 के खंड (1) के उपखंड (ख) में 'विधि' शब्द के बाद और 'के' के पहले 'या किसी वर्तमान प्रसंविदा' शब्द और रखे जायें''

यह संशोधन इस अभिप्राय से रखा जा रहा है कि खंड (क) में मुद्रा विधेयक व्यक्त करने के लिये जो पारिभाषिक शब्द रखे गये हैं उनका और खुलासा हो जाये। कहने का मतलब यह है कि वह विधेयक मुद्रा विधेयक समझा जाये जो किसी एक शुल्क, भारदर, उद्ग्रहण या अन्य किसी रूप के राजस्व, आय या सरकारी प्राप्ति अथवा सरकारी व्यय का आरोपण, उत्पाद, परिहरण, परिवर्तन अथवा आयनियमन करता हो। विधान के मसौदे में कहीं भी, विधान में दिये हुये महत्त्वपूर्ण परिभाषिक शब्दों की व्याख्या नहीं दी गई है, इसी कारण, इस महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द के स्पष्टीकरण के लिये यह संशोधन मैं रख रहा हूं।

''कर'' शब्द जो यहां रखा गया है उसमें अगर अन्य तरह के सरकारी राजस्व या आमदनी को भी, आप शामिल मानते हैं, जिनका कि हमने यहां पृथक-पृथक हवाला दिया है तो मुझे आशंका है कि कोई स्पष्ट परिभाषा-मूलक खंड न होने के कारण इसमें गलतफहमी होगी। बहुत सम्भव है कि वकीलों की चातुरी ''कर'' शब्द को ऐसा अर्थ दे कि उस में और तरह के सरकारी राजस्व, आमदनी जिनका कि मैंने उल्लेख किया है शामिल न किये जायें। और कोई विधेयक, बावजूद इस बात के कि वह मुद्रा विधेयक है, पर उसमें कर के आरोपण, उत्सादन, परिहरण, परिवर्तन अथवा आनियमन का उल्लेख न होने से वह मुद्रा विधेयक न समझा जाये। मैं समझता हूं कि ऐसा होने से तो राज्य परिषद् की शक्ति बहुत ही बढ़ जायेगी। इसलिये यह बहुत ही आवश्यक है कि यहां अन्य तरह के सरकारी राजस्व आय या प्राप्ति को भी शामिल कर लिया जायें ताकि इस मामले में किसी विवाद की गुंजाइश न रह जाये।

विधान सम्बन्धी इतिहास का हर विद्यार्थी यह जानता होगा कि इंग्लैंड में लोक सभा और हाउस आफ लार्ड्स के बीच अक्सर अपने प्रावधान के लिये जो-जो झगड़े हुये हैं उनमें मुद्रा विधेयक की परिभाषा ही प्रायः करके मूल में रही है। बजट में अन्य ऐसी बहुत सी बातों का समावेश करके जो कि पहले उस में नहीं शामिल थीं, हाउस आफ लार्ड्स को मुद्रा विधेयक सम्बन्धी शक्ति को क्रमशः बहुत कुछ घटा दिया गया है। इस तरह से वित्त सम्बन्धी मामलों में लोक सभा का इतना प्राधान्य स्थापित हो गया है और अब उस पर कोई प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता है।

अनुच्छेद में जो शब्द रखे गये हैं अगर वे ऐसे ही रहने दिये जाते हैं तो मेरा ख्याल है कि इससे इस बात की काफी आशंका है कि वित्त सम्बन्धी मामलों में लोक सभा के अधिकार उतने व्यापक और पूर्ण न रहेंगे जितना कि मेरे ख्याल में दायित्व पूर्ण प्रतिनिधि मूलक लोकतंत्रीय व्यवस्था में उसे होना चाहिये।

इसीलिये मैंने इन सब शब्दों को भी शामिल कर दिया है जिनको लेकर अतीत काल में किसी न किसी रूप में दूसरे मूल्कों में मतभेद खड़ा हो चुका है और मेरी समझ से यह जरूरी है कि इन सब शब्दों का यहां स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाये।

मेरे संशोधन का दूसरा भाग जिसमें किसी विधि या प्रसंविदा के संशोधन का उल्लेख है, वह तो और भी आवश्यक है। सरकार की प्रसंविदाएं प्राय: ऋण रूप में दिये गये धन से ही सम्बन्ध रखती हैं और ऋण के रूप में ली हुई रकम पर जो ब्याज होता है, हो सकता है उसी की दर में परिवर्तन किया जाये। इसमें परिवर्तन किये गये हैं। प्रसंविदा में परिवर्तन किये जाते हैं वह एक तरफा ही होते हैं और अवश्य ही सत्ताधारी विधानसभा को ऐसा करने को क्षमता प्राप्त रहती है पर यह शक्ति लोक सभा में निहित रहनी चाहिये। मुद्रा विधेयकों और वित्त सम्बन्धी प्रशासन के सम्बन्ध में जो उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है उसी अधिकार का यह भी एक अंग माना जाना चाहिये। उदाहरण के लिये मैं आप को बताऊंगा कि इंग्लैंड में, निधिकृत राष्ट्र ऋण पर जो ब्याज की दर है वह बार-बार घटाई गई है। ब्याज दर घटाने का कार्य अवश्य ही सर्वसत्ताधारी किसी निकाय का काम है और जो विधान हम बना रहे हैं उसमें यह अधिकार विधान-मंडल को निस्संदेह प्राप्त है। पर एतदर्थ जो विधेयक रहेगा वह वित्त विषयक विधेयक का ही एक अंग होगा इसलिये इसके बारे में क्षमता केवल लोक सभा को ही प्राप्त रहनी चाहिये।

मुझे इस सम्बन्ध में कई अन्य उदाहरण भी याद हैं। करीब पन्द्रह साल हुए, अमेरिका में नागरिकों के निजी प्रसंविदाओं में भी, जिनमें कि 'गोल्ड क्लाज' का समावेश था, कांग्रेस के एक अधिनियम द्वारा संशोधन किया गया था। संशोधन का आशय यह था कि अमेरिकन नागरिक और उसके विदेशस्थ ग्राहक के बीच हुई प्रसंविदा में, ''गोल्ड क्लाज'' की उपेक्षा की जायेगी अगर उस प्रसंविदा के अनुसार यह जरूरी हो कि माल या सेवाओं के लिये भुगतान सोने में होगा, चाहे किसी देश की मुद्रा के हिसाब से भुगतान करने की बात उसमें कही गई हो। यदि ये प्रसंविदायें वहां प्रभावी बनी रहने दी जातीं और उनके लिये यह संशोधन न किया गया होता तो इसका नतीजा यह होता कि तत्कालीन अमेरिकन कांग्रेस और वहां की सरकार डालर की विनिमय दर को अनुपात में रखने के लिये चाहे जो भी उपाय करती वह सब व्यर्थ होता क्योंकि वहां की मुद्रा की बाबत तो जैसा भी होता किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान तो केवल सोने में या सोने के बराबर मूल्य की मुद्रा में या बुलियन में, जैसी भी प्रसंविदा में शर्त होती, करना जरूरी होता। अमेरिकन विधान मंडल ने ऐसी सूरत में यह कानून बना दिया कि गोल्ड क्लाज प्रसंविदाओं में लागू न होगा। अगर यह क्लाज प्रभावी रहने दिया जाता तो जिस प्रयोजन के लिये तत्कालीन अमेरिकन विधान मंडल ने उक्त कानून पास किया था वह न सिद्ध हो पाता। अगर मुद्रा-विधेयकों के सम्बन्ध में लोक सभा को जो शक्तियां दी गई हैं उनमें इस तरह की शक्ति समाविष्ट नहीं रखी जाती है तो मुझे भय है कि आज के युग में, जिसमें कि हम रह रहे हैं, उसमें ऐसा करने का मतलब यह होगा कि नागरिकों के पारस्परिक आर्थिक व्यवहार में या नागरिकों और राज्य के बीच जो आर्थिक व्यवहार होगा उसमें संशोधन के निर्मित कानून बनाने की लोक सभा की जो शक्ति है उसको पूरा-पूरा आप यहां नहीं दे रहे हैं। मेरी

[प्रो. के.टी. शाह]

राय में इन सभी शक्तियों का आप यहां उल्लेख कर दीजिये। अगर आप उस सिद्धांत को साफ-साफ स्वीकार करते हैं कि वित्त सम्बन्धी मामलों में सर्वोच्च अधिकार लोक सभा में ही निहित रहना चाहिये तो मेरी समझ से मेरे इस संशोधन को मानने में आपको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इसी ख्याल से मैंने पहले एक संशोधन रखा था जिस में साफ-साफ कहा गया था कि मुद्रा विधेयक केवल लोक सभा में ही पुर:स्थापित किया जा सकता है। यह खंड निषेधात्मक रूप में इस प्रकार रखा गया है कि इसका गलत अर्थ लगाया जा सकता है और इसका दुरुपयोग किया जा सकता है। अस्तु मेरा वह संशोधन तो पेश नहीं हुआ और अब इसीलिये मैं उस बात का खुलासा करा लेना चाहता हूं जिसके सम्बन्ध में खुद विधान में कोई सन्देह न रहना चाहिये और जिसको हमें यहां इसलिए न छोड़ना चाहिए कि आगे चलकर सभा के नियमों या स्थायी आज्ञाओं या पूर्ववर्त्ती उदाहरणों के आधार पर उसका खुलासा हो जायेगा। इस सम्बन्ध में हमारा अपना कोई पूर्ववर्त्ती उदाहरण है नहीं और हमें उसे बनाना पड़ेगा। आखिर हर मौके पर हम इस सम्बन्ध में ब्रिटेन के वैधानिक इतिहास का हवाला तो ढूंढ नहीं सकते। हमें इस बात की गुंजाइश न रहने देनी चाहिये कि आगे चलकर कोई भी कानूनी चातुरी का प्रयोग कर सके और इस उदार परम्परा को क्षति पहुंचे। सभा में पहल किसी मौके पर यह कहा गया था कि अपना यह विधान वकीलों के लिये कल्प वृक्ष सिद्ध होगा। आशा है यह कथन सच न उतरेगा। ऐसा कोई शब्द पदसंहति रख कर अपने बुनियादी विधान को हमें अस्पष्ट और अनिश्चित नहीं रहने देना चाहिये जिसको कि कानूनी चातुरी से तोड़-मरोड़ कर कोई गलत अर्थ दे। इसी लिए मैंने यह संशोधन रखा है और आशा है सभा इसे स्वीकार करेगी।

***श्री एच.वी. कामत:** मैं यह प्रस्ताव रखता हूं, श्रीमान्, कि:

> ''अनुच्छेद 90 के खंड (1) के उपखण्ड (ङ) में 'राशि की वृद्धि' शब्दों की जगह 'राशि में परिवर्तन या उसका उत्सादन' शब्द रखे जायें।''

इस तरह के संशोधन की आवश्यकता पर बहुत कुछ कहने की मुझे जरूरत नहीं है क्योंकि यह सभी जानते हैं कि व्यय की मदें जब भार के आगम पर भारित होंगी तो ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है कि उस व्यय की कोई आवश्यकता न रहे और वह व्यय किया ही न जाये या उसमें कमी या वृद्धि हो जाये। वृद्धि की सम्भावना मैं सोच सकता हूं पर इस खंड में केवल एक वृद्धि की ही सम्भावना सोची गई है। मैं पूछता हूं आखिर यह क्यों नहीं यहां सोचा गया कि व्यय में कमी भी हो सकती है या यह कि व्यय की राशि बिल्कुल उठा ही दी जा सकती है? यह प्रश्न भी उठता है कि व्यय की कौन-कौन सी मदें होंगी जो भारत के राजस्व पर भारित होंगे। उस प्रश्न के समाधान के लिए हम अनुच्छेद 92 (3) को देख सकते हैं। उसमें कहा गया है अमुक-अमुक व्यय भारत के राजस्व पर भारित होंगे। उस समूची को मैं नहीं पढ़ने जा रहा हूं इन विभिन्न मदों की ओर सभा का ध्यान मात्र मैं आकृष्ट कर देता हूं। उस सम्बन्ध में 'क' से 'च' तक की कुल 6 मदें हैं अगर गौर से आप इनको पढ़ें तो देखेंगे कि राष्ट्रपति के वेतन और भत्ते के सम्बन्ध में विधान में यह व्यवस्था रखी गई

है कि उसके पदावधि काल में इसमें कोई कमी नहीं की जा सकती है। यह व्यवस्था आपको अनुच्छेद 48 (4) में मिलेगी। यह तो ठीक ही है। पर जब हम राज्य-परिषद् के सभापति और उपसभापति तथा लोक सभा के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते सम्बन्धी प्रावधान को देखते हैं तो यह पाते हैं। तत्सम्बन्धी अनुच्छेद में यह साफ-साफ नहीं कहा गया है कि उनके वेतन और भत्ते में, इनकी पदावधि काल में कोई कमी न की जायेगी जैसा कि राष्ट्रपति के बारे में कहा गया है। अवश्य ही मैं मानता हूं उसमें कमी न की जायेगी, पर चूंकि संसद सर्वसत्ता सम्पन्न रहेगी इसलिये वह उसमें कमी कर सकती है। इस सम्भावना को मद्देनजर रखते हुए ही मैंने यह सुझाव दिया है कि ''परिवर्तन'' शब्द रखा जाये। 'परिवर्तन' शब्द में घटाना या बढ़ाना दोनों ही बातें आ जाती हैं। इसलिये में माननीय डा. अम्बेडकर से तथा सभा से अपील करूंगा कि 'परिवर्तन' शब्द को रखना स्वीकार कर लें क्योंकि यह अधिक व्यापक शब्द है और इसमें घटाना या बढ़ाना दोनों ही बातें आ जाती हैं।

और जहां तक कि उत्सादन यानी व्यय-राशि के उठाने का सम्बन्ध है, वह भी कोई असम्भव बात नहीं है। अगर आप अनुच्छेद 92 (3) को देखें, जिसका कि मैंने अभी हवाला दिया है, तो पायेंगे कि उसमें उन विभिन्न मदों का उल्लेख किया गया है जो भारत के राजस्व पर भारित होंगे। उक्त अनुच्छेद के उपखण्ड (4) में कहा गया है कि इस संविधान से अथवा संसद से विधि द्वारा इस प्रकार प्रभृत्त घोषित व्यय भारत के राजस्व पर भारित होगा। मुझे व्यय सम्बन्धी अन्य मदों का उल्लेख करने की जरूरत नहीं है जिनको संसद भारत के राजस्व पर भारित करने का निश्चय कर सकती है। बहुत से ऐसे अनुदान भी हो सकते हैं जो कि विभिन्न शैक्षणिक, सांस्कृतिक या सामाजिक या अन्य संस्थाओं को दिये जाते हों और संसद विधि द्वारा भारत के राजस्व पर उनको भारित करने का निश्चय करे और फिर कालान्तर में विधि द्वारा उनको बन्द कर देने का वह निश्चय करे। अनुच्छेद का जो वर्तमान रूप है उसमें यह सम्भावना ही नहीं रखी गई है कि भारत के राजस्व पर भारित होने वाले इन व्ययों में कमी भी हो सकती है या इनको बिल्कुल बन्द भी किया जा सकता है। अतः इस स्थिति को सुधारने के लिये और आकस्मिक आवश्यकताओं की गुंजाइश को पूरा करने के लिये मैं अपना संशोधन नं. 1674 पेश कर रहा हूं और सभा से इसे स्वीकार करने की सिफारिश करता हूं।

***अध्यक्षः** संशोधन नं. 1675, 1676, 1677 और 1678—ये सब के सब शाब्दिक मात्र हैं। अब प्रस्तुत अनुच्छेद से सम्बन्ध रखने वाले सभी संशोधन पेश हो चुके हैं और जो कोई इन पर अथवा अनुच्छेद पर कुछ कहना चाहते हों कह सकते हैं।

***श्री अनन्तशयनम् आयंगरः** माननीय मित्र श्री कामत द्वारा उपस्थित किये गये संशोधन के सम्बन्ध में ही मैं बोलूंगा। अनुच्छेद के सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है। उन्होंने अभी अनुच्छेद 90 के उपखण्ड (1) (ङ) का हवाला दिया है जिसमें कहा गया है ''किसी व्यय को भारत के राजस्व पर भारित घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि की वृद्धि'' इस तरह व्यय में वृद्धि की बात हो तभी वह कोई विधेयक मुद्रा विधेयक समझा जायेगा। माननीय मित्र श्री कामत यह चाहते हैं कि 'वृद्धि' शब्द की जगह 'परिवर्तन' शब्द रखा जाये। मैं उनसे कहूंगा कि वह मूल योजना पर गौर करें और फिर मसौदा बनाने वालों की योजना को समझ लेने के बाद भी अगर वह यहां यह परिवर्तन लाना

[श्री अनन्तशयनम् आयंगर]

चाहते हैं तो वह इस पर जोर दें पर पहले उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि इसके पीछे मूल योजना क्या है? अनुच्छेद 97 में कहा गया है कि—इस संविधान के अनुच्छेद 90 के खण्ड (1) के (क) से (च) तक के पदों में उल्लिखित विषयों में से किसी के लिए प्रावधान करने वाला विधेयक अथवा संशोधन राष्ट्रपति के अभिस्ताव के बिना पुर:स्थापित अथवा प्रस्तावित न किया जायेगा...''

व्यय की वृद्धि के सम्बन्ध में जो मुद्रा विधेयक होगा उसके लिये भी राष्ट्रपति का अभिस्ताव आवश्यक है। इस अनुच्छेद के परन्तुक में कहा गया है ''किसी कर के घटाने अथवा उत्सादन के लिए प्रावधान करने वाले किसी संशोधन के प्रस्ताव के लिए इस खण्ड के अधीन किसी अभिस्ताव की अपेक्षा न होगी''। वर्तमान विधि के अनुसार भी आमतौर पर यही कायदा रहा है कि किसी मुद्रा या वित्त सम्बन्धी विधेयक में कर को घटाने का या उठाने का संशोधन पेश किया जाता है तो उसके लिये गवर्नर जनरल की सिफारिश जरूरी नहीं हुआ करती। इसी व्यवस्था का अनुकरण यहां भी किया गया है। कर के लगाने से समाज पर भार पड़ता है इसलिए उसके बारे में राष्ट्रपति की सिफारिश जरूरी होती है पर जब किसी कर को घटाने या उठाने का प्रश्न है तो उसके लिए सिफारिश की जरूरत नहीं है। यह प्रश्न सर्वथा सभा की मरजी पर निर्भर करता है और इसके लिए राष्ट्रपति द्वारा इस जांच की जरूरत नहीं होती कि आया वह प्रस्ताव समाज के हित में है या उसके प्रतिकूल। यहां मूल में योजना यही है। अनुच्छेद 97 का पहले वाला अंश संशोधन और विधेयक दोनों के लिए ही लागू है पर परन्तुक केवल संशोधन पर ही लागू होता है। अत: किसी कर की राशि में कमी करने वाला या उसका उत्सादन करने वाले विधेयक के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश जरूरी है। बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के वह उपस्थित ही नहीं किया जा सकता । और ऐसे विधेयक के लिये भी जो किसी चालू कर को बढ़ाना चाहता हो या किसी व्यय को बढ़ाना चाहता हो, राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी आवश्यक है। किन्तु व्यय को बढ़ाने वाले विधेयक तथा व्यय को घटाने या उठाने वाले विधेयक में एक अन्तर है और वह यह है। व्यय को बढ़ाने वाला विधेयक केवल लोक सभा में ही पुर:स्थापित किया जा सकता है किन्तु व्यय को कम करने वाला या उसे उठा देने वाला विधेयक किसी भी सभा में उपस्थित किया जा सकता है क्योंकि ऐसे विधेयकों के सम्बन्ध में दोनों ही आगारों को अधिकार क्षेत्र प्राप्त है। अगर किसी कर को घटाने या उठाने का प्रश्न है तो तद्विषयक विधेयक किसी भी आगार में उपस्थित किया जा सकता है, पर मेरे माननीय मित्र श्री कामत चाहते हैं कि यह शक्ति केवल लोक सभा तक ही सीमित रहे। व्यय को बढ़ाने का प्रश्न एक ऐसा प्रश्न है जिस पर यह विचार करना होगा कि आया भारत उस वृद्धि को बरदास्त कर सकता है या नहीं। कोई व्यय भारत के राजस्व पर भारित हो या न हो, यह ऐसा प्रश्न है कि जिस पर छान-बीन करना जरूरी है क्योंकि कोई व्यय जो कि देश के राजस्व पर भारित होगा उसके लिए सभा की राय अपेक्षित नहीं है जोकि आमतौर पर सभा उस पर बहस मुबाहिसा कर सकती है पर सभा का मतदान उसके लिए अपेक्षित नहीं है। ऐसी सूरत में सभा के अधिकार पर जो प्रतिबंध है उसे कर या व्यय की वृद्धि तक ही सीमित रखना क्या ठीक न होगा। आप तो वृद्धि और कमी दोनों ही विषयों में उसके अधिकार को उठा देना चाहते हैं। ससम्मान मैं यह कहूंगा कि मा. मित्र ने इस खंड के दायरे को समझने

में भूल की है और अब व्यर्थ ही वह दोनों आगारों के अधिकार क्षेत्र पर प्रतिबंध लगाना चाहते हैं और ऐसे विषय के बारे में जिसमें कि केवल मुद्रा सम्बन्धी प्रश्न में तथा व्यय या कर वृद्धि के सम्बन्ध में ही अधिकार-क्षेत्र लोक सभा तक सीमित रखा गया है। इसलिए श्री कामत के संशोधन से मैं सर्वथा असहमत हूं।

***श्री एच.वी. कामतः** एक ज्ञातव्य है, श्रीमान्। क्या माननीय सदस्य मुझे वह अनुच्छेद बतायेंगे जिसमें यह प्रावधान है कि कोई विधेयक जो व्यय को बढ़ाने या उठाने की बात कहता है वह किसी भी आगार में उपस्थित किया जा सकता है। अनुच्छेद 97 के परन्तुक में तो कर को घटाने या उठाने की बात कही गई है और राजस्व अथवा व्यय की अन्य मदें उसमें नहीं हैं। समस्त योजना कुछ अस्पष्ट है और मैं नहीं जानता कि श्री आयंगर की दृष्टि में यह योजना स्पष्ट कैसे दिखती है। अगर वह मुझे समझा दें तो मैं अपने संशोधन के सम्बन्ध में अवश्य ही विचार करूंगा।

***श्री अनन्तशयनम् आयंगरः** जहां तक कि संशोधन का सम्बन्ध है, विधेयक सम्बन्धी संशोधन बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के ही वह पेश किया जा सकता है अगर उसमें किसी कर को घटाने या उठाने की बात है। पर विधेयक के लिये, विशेषतः जबकि उसमें कर को घटाने की बात है, राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक है। पर अगर उसमें कर बढ़ाने की बात है तो विधेयक मुद्रा विधेयक के रूप में ही आयेगा। इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 97 को देखिये। पर जिसमें कर घटाने की बात कही गई है वह विधेयक मुद्रा विधेयक है ही नहीं।

***श्री एच.वी. कामतः** वह कौन से प्रावधान हैं जिसके अनुसार आप यह कह रहे हैं?

***श्री अनन्तशयनम् आयंगरः** विधेयक तभी मुद्रा विधेयक हो सकता है जबकि उसमें राशि वृद्धि की बात कही गई है। अगर वह राशि वृद्धि से संबंध नहीं रखता है तो वह मुद्रा विधेयक नहीं है और इसलिये वह अनुच्छेद 97 के अन्तर्गत आ जाता है और उसके लिये राष्ट्रपति की सिफारिश अपेक्षित भी हो सकती है और अनपेक्षित भी। माननीय मित्र श्री कामत यह चाहते हैं कि इसके लिये राष्ट्रपति की सिफारिश होनी ही चाहिये और साथ ही वह मुद्रा विधेयक भी माना जाना चाहिए। वर्तमान वैधानिक व्यवस्था के अनुसार मुद्रा विधेयक के संबंध में केवल एक ही आगार को अधिकार क्षेत्र प्राप्त है।

***श्री एच.वी. कामतः** मुझे खेद है कि मैं बीच में हस्तक्षेप कर रहा हूं, पर मैं प्रश्न का स्पष्टीकरण चाहता हूं। माननीय मित्र का ध्यान मैं अनुच्छेद 97 (1) के परन्तुक की ओर आकृष्ट करूंगा जिसका कि आपने अभी हवाला दिया है। परन्तुक में कहा गया है कि ऐसे विधेयक के लिए जिसमें कर को घटाने या उठाने की बात है राष्ट्रपति की सिफारिश जरूरी नहीं होगी। पर और खर्चों का क्या होगा, उनके घटाने या उठाने के सवाल के बारे में क्या किया जायेगा? इस योजना में इन सब बातों का कोई खुलासा नहीं है।

***श्री अनन्तशयनम् आयंगरः** उस हालत में विधेयक न तो मुद्रा विधेयक समझा जायेगा और न वित्त विधेयक। मुद्रा विधेयक तो वही विधेयक माना जायेगा जो अनुच्छेद 90 के खंड (1) के (क) से (च) तक के उपखंडों के अंतर्गत आता हो। इस तरह केवल यही विधेयक मुद्रा विधेयक या वित्त विधेयक माना जायेगा जिसका संबंध व्यय की राशि की वृद्धि से है। अगर उसमें राशि को बढ़ाने का प्रश्न नहीं है अर्थात् उसमें राशि को

[श्री अनन्तशयनम् आयंगर]

बढ़ाने या उठाने का प्रश्न है तो वह मुद्रा विधेयक नहीं समझा जायेगा। यही कारण है कि उसके संबंध में राष्ट्रपति की सिफारिश जरूरी समझते हैं। यदि यह परन्तुक केवल कर से संबंध रखता है, जैसा कि मैं समझ रहा हूं, तो कर में वह सभी बातें तो नहीं आती जिनका उल्लेख (क) से (च) तक के उपखंडों में दिया गया है। मैं यह देखता हूं कि 'कर' शब्द यहां अन्य प्रावधानों से भिन्न अर्थ में व्यवहृत किया गया है। इसलिए परन्तुक लाजिमी तौर पर कर विषयक विधेयक या प्रस्तुत अनुच्छेद के खंड (1) (क) में प्रावहित किसी व्यय की राशि को घटाने या उठाने से संबंध रखने वाले संशोधन के लिए लागू नहीं होता। ऐसे विधेयक तो किसी भी आगार में बिना किसी सिफारिश के पेश किये जा सकते हैं। अत: अब प्रश्न जो उठता है वह यह है कि कर की राशि को घटाने या उठाने वाले विधेयक भी क्या उसी श्रेणी में रख दिये जायें जिसमें कि राशि-वृद्धि करने वाले विधेयक हैं। इस संबंध में मेरा कहना तो यह है कि किसी कर को घटाने या उठाने से संबंध रखने वाले मामलों में किसी भी आगार के अधिकार क्षेत्र को सीमित करना ठीक नहीं है। ऐसे विधेयकों के संबंध में जिनमें रकम को बढ़ाने की बात है, एक मात्र अधिकार-क्षेत्र केवल लोक सभा को ही प्राप्त है और अन्य विधेयक किसी भी आगार में स्वच्छन्दता पूर्वक पेश किये जा सकते हैं। मैं इस आयंत्रण से सहमत नहीं हूं।

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेना:** अध्यक्ष महोदय, इस अनुच्छेद के खंड (2) में यह कहा गया है कि: ''कोई विधेयक केवल इसी कारण से मुद्रा विधेयक न समझा जायेगा कि वह अर्थ दंड या अन्य आर्थिक शास्ति के आरोपण का, अथवा अनुज्ञाओं के लिए शुल्क की या की हुई सेवाओं के लिए शुल्क की, अभियाचना का या देने का प्रावधान करता है, अथवा इस कारण से कि वह किसी स्थानीय प्राधिकारी अथवा निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनार्थ किसी कर के आरोपण, उत्सादन, परिहरण, परिवर्तन या आनियमन का प्रावधान करता है।'' इसके अनुसार, श्रीमान्, वह विधेयक, जिसमें किसी स्थानीय प्राधिकारी द्वारा किसी कर के आरोपण, उत्सादन या परिवर्तन का प्रावधान किया गया है, मुद्रा विधेयक नहीं होगा। मैं खुद भी यही महसूस करता हूं, जैसा कि अभी श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने बताया है, कि वह विधेयक जिसमें किसी कर को बढ़ाने का या कोई नया कर लगाने का प्रावधान है, मुद्रा विधेयक होगा पर यहां उस खंड का अभिप्राय यह है कि ऐसा विधेयक मुद्रा विधेयक न होगा।

***अध्यक्ष:** मैं समझता हूं आपको कुछ गलत फहमी हो रही है। इस खंड से तो स्थानीय निकाय को करारोपण का अधिकार मात्र प्राप्त होता है। उससे कर थोड़े ही मिलता है, बल्कि कर लगाने का अधिकार मिलता है।

***प्रो. शिब्बन लाल सक्सेना:** यह तो मैं जानता हूं, श्रीमान्। मेरा यह ख्याल है कि वह विधेयक भी, जिसके द्वारा किसी स्थानीय निकाय को कर लगाने का अधिकार मिलता है, मुद्रा-विधेयक माना जाना चाहिये। वस्तुत: प्रो. के.टी. शाह का संशोधन जिसमें कि अनुच्छेद 90 के खंड (1) के उपखंड (क) में ''शुल्क, भार दर या अन्य किसी रूप के राजस्व, आय या सरकारी प्राप्ति अथवा सरकारी व्यय'' शब्दों को जोड़ने की बात कही गई है, वह मेरी समझ से कहीं अच्छा प्रावधान होगा। उपखंड (क) में केवल इतना ही कहा गया है कि—''किसी कर का आरोपण, उत्सादन, परिहरण, परिवर्तन अथवा आनियमन''

उसमें ''शुल्क, भार दर, उद्ग्रहण या किसी अन्य रूप के राजस्व, आय या प्राप्ति'' ये शामिल नहीं है। माननीय कानून मंत्री से, जो कि इस विधेयक के कर्ताधर्ता हैं, मैं यह अनुरोध करूंगा कि इस उपखंड (क) में वह समुचित संशोधन होने दें। मैं यह महसूस करता हूं कि उस खंड (2) से लोक सभा की थोड़ी बहुत शक्ति कम हो जाती है और इससे शासन के लिये यह लाजिमी हो जाता है कि वह ऐसे विधेयकों को, जो कि वस्तुतः मुद्रा विधेयक हैं, ऊपर वाले आगार के समक्ष जरूर रखे। मैं नहीं समझता कि ऐसे मामलों के संबंध में ऐसा करना उचित होगा। मैं यह महसूस करता हूं कि अनेक स्थानीय निकायों को आज कुछ भी राजस्व नहीं मिलता है। बहुत से बड़े-बड़े कार्यों के लिये जो कि उनको करने हैं, उनके पास आज कोई भी निधि नहीं है। मैं खुद एक बड़े जिले के बोर्ड का सदस्य हूं और यह महसूस करता हूं कि जब तक कि स्थानीय निकायों को और राजस्व नहीं प्राप्त होता है, वे अपने कार्यक्रम को पूरा कर ही नहीं सकते। हम अपने संसद में तो करोड़ों रुपये का व्यय दो तीन घंटे के अन्दर पास कर देते हैं पर ये स्थानीय निकाय अपने समूचे वर्ष में चन्द लाख रुपये भी नहीं इकट्ठा कर पाते जिससे कि वे अपनी मोटी-मोटी जरूरियात को जैसे स्कूल बनाना, ग्राम्य सड़कों की मरम्मत करना और इसी तरह के अन्य कई प्रतिदिन के काम में आने वाली आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। इन सब बातों के बावजूद भी आप यहां प्रावधान यह कर रहे हैं कि ऐसे विधेयक जिनसे स्थानीय निकायों को कर लगाने का अधिकार प्राप्त होता है, मुद्रा-विधेयक नहीं समझे जायेंगे। इससे तो ऐसे विधेयकों के पास होने में बड़ी देर लग जायेगी। मैं समझता हूं कि इस अनुच्छेद में कुछ ऐसा संशोधन होना चाहिये जिससे कि संबंधित विधेयक के पास होने में बिलम्ब होने के कारण स्थानीय निकायों को असुविधा न उठानी पड़े।

***माननीय डा. बी.आर. अम्बेडकरः** प्रस्तुतः अनुच्छेद संबंधी बहस को देखते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अभी इस पर हमें और गौर करना पड़ेगा। मैं आपसे अनुरोध करूंगा, अध्यक्ष महोदय, कि इस पर अभी आप राय न लें।

***श्री नजीरुद्दीन अहमदः** मैं यह अनुरोध करना चाहता हूं कि संशोधन नं. 1669 में 'only' (ही) शब्द के बारे में जो सुझाव हैं उस पर हमें विशेष रूप से विचार करना चाहिये। यह शब्द यहां बिल्कुल मिसफिट है।

***अध्यक्षः** इस अनुच्छेद के संबंध में कुल चार संशोधन पेश हुए हैं। पहला संशोधन है नं. 1669 जिसमें कहा गया है कि 'only' (ही) शब्द यहां से हटा दिया जाये। श्री नजीरुद्दीन अहमद चाहते हैं कि इस संशोधन की अहमियत पर खासतौर पर विचार किया जाये। मसौदा समिति इस पर विचार कर सकती है। समूचा अनुच्छेद अभी विचारार्थ अभी यों ही छोड़ दिया जाता है।

अनुच्छेद 91

***अध्यक्षः** अब हम आगे के अनुच्छेद 91 को लेते हैं।

प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 91 विधान का अंग माना जाये।''

(संशोधन 1679 पेश नहीं किया गया।)

***श्री लोकनाथ मिश्र** (उड़ीसा : जनरल): अध्यक्ष महोदय, मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि:

''अनुच्छेद 91 में 'either that he assents to the Bill or he withholds assent therefrom' (वह विधेयक पर अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है) शब्दों की जगह 'that he assents to the Bill' (कि वह विधेयक पर अनुमति देता है) शब्द रखे जायें और अनुच्छेद के परन्तुक के अन्त में निम्नलिखित शब्द जोड़ दिये जायें:—

'and if the Bill is passed again by the House with or without amendment and presented to the President, the President shall not withhold assent therefrom.' ''

(और अगर विधेयक, संशोधन सहित या बिना संशोधन के पुन: सभा द्वारा पास हो जाता है और राष्ट्रपति के सामने रखा जाता है तो राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति नहीं रोकेगा।)

इस संशोधन को पेश करने में मैं यहां अच्छे से अच्छे व्यक्तियों का ही पथानुसरण कर रहा हूं क्योंकि खुद मसौदा समिति का भी इसी आशय का एक संशोधन है जो आगे चलकर आयेगा। संसद द्वारा स्वीकृत किसी विधेयक पर अपनी अनुमति रोकने का जो राष्ट्रपति को अधिकार है उसको इस संशोधन के द्वारा उठा देना चाहता हूं। इस संबंध में मेरा इतना ही मन्तव्य है कि हमारे प्रधान की यही स्थिति है जो इंग्लैंड में सम्राट की है और जब सम्राट को संसद द्वारा पास किये विधेयक पर अनुमति रोकने का अधिकार नहीं प्राप्त है तो यहां भी वही होना चाहिए। सुतरां यह संशोधन सर्वथा उचित है।

जहां तक कि मेरे दूसरे संशोधन का संबंध है, बिना उसके यह परन्तुक अपूर्ण ही रह जाता है। मान लीजिये राष्ट्रपति किसी विधेयक को पुन: विचारार्थ वापिस लौटा देता है और संसद उसके बारे में किसी निर्णय पर पहुंचती है तो उस हालत में बिना इस संशोधन के समूची कार्यवाही अपूर्ण और अधूरी रह जायेगी। इस संबंध में मसौदा समिति का भी यही दृष्टिकोण है, इसलिए यह संशोधन भी स्वीकृत होना चाहिए।

(संशोधन नं. 1681, 1682, 1683 और 1684 नहीं पेश किये गये।)

***माननीय डा. बी.आर. अम्बेडकर:** मैं यह प्रस्ताव उपस्थित करता हूं, श्रीमान्, कि:

''अनुच्छेद 91 के परन्तुक में 'अधिक से अधिक 6 सप्ताह में' (not later than six weeks) शब्दों की जगह 'यथासंभव शीघ्र' (as soon as possible) शब्द रखे जायें।''

***श्री नजीरुद्दीन अहमद:** इस संशोधन पर मेरा एक संशोधन है जो है नं. 94।

***अध्यक्ष:** मेरा ख्याल है कि यह संशोधन सिर्फ अनुच्छेद की रचना यानी उसके मसौदे से ही संबंध रखता है।

***श्री नजीरुद्दीन अहमदः** पर अमल में इससे फर्क जरूर पड़ेगा।

***अध्यक्षः** तो आपका यह ख्याल है कि इससे अभिप्राय में फर्क पड़ेगा?

***श्री नजीरुद्दीन अहमदः** हां, श्रीमान्। मैं यह प्रस्ताव रखता हूं कि:

''संशोधन-सूची के संशोधन नं. 1685 में अनुच्छेद 91 के परन्तुक के लिए प्रस्तावित शब्द 'possible' के लिये 'may be' शब्द रखे जायें।''

इस संबंध में मेरा यह कहना है, श्रीमान्, कि इस संशोधन से सार में अन्तर आयेगा। परन्तुक में यह कहा गया है कि:—

''विधेयक के उपस्थापन के पश्चात् यथासंभव शीघ्र, राष्ट्रपति उसे लौटा देगा... इत्यादि'' (The President may, as soon as possible, after presentation of the Bill, return the Bill, etc.)। यहां मैं यह चाहता हूं कि ''as soon as possible'' की जगह ''as soon as may be'' कर दिया जाये। अगर हम इसे इसी रूप में रहने देते हैं जिसमें कि डा. अम्बेडकर इसे रखना चाहते हैं तो इससे समय का व्यवधान नहीं मिलता है। ''as soon as possible'' का मतलब यह हुआ कि शीघ्र ही वह लौटा दिया जायेगा यहां possible शब्द से यह मतलब होगा कि जहां तक शारीरिक रूप से शक्य है वह फौरन उसे लौटा देगा। इस 'possible' शब्द के रहने से राष्ट्रपति को समय का किंचिन्तमात्र भी व्यवधान न मिल पायेगा। पर ''may be'' के रहने से उसे समय में समुचित व्यवधान मिल जायेगा। ''may be'' रहने से यह मतलब होगा कि जहां तक कि उचित रूप से व्यवहार्य हो। यही एक मात्र कारण है कि जिसके लिए मैंने यह संशोधन रखा है।

(संशोधन नं. 1686 पेश नहीं हुआ।)

***अध्यक्षः** संशोधन नं. 1687, मेरे ख्याल से केवल शाब्दिक है। संशोधन नं. 1688 का आशय भी मेरी समझ से वही है जो कि श्री लोकनाथ मिश्र के संशोधन का है जिसे उन्होंने अभी-अभी पेश किया है।

***श्री टी.टी. कृष्णमाचारीः** थोड़ा सा भाषा संबंधी अन्तर दोनों में है। मेरे ख्याल में डा. अम्बेडकर का प्रस्ताव ज्यादा अच्छा होगा।

***अध्यक्षः** मैं इस पर मत ले लूंगा। इसे पेश करने की जरूरत नहीं है।

अब आता है संशोधन नं. 1687। इसका भी वही आशय है जो कि डा. अम्बेडकर के संशोधन नं. 1688 का है। हम मान लेते हैं कि यह उपस्थित किया जा चुका है। क्या इसे पेश करना जरूरी है? अगर इसमें कुछ अन्तर है तो इसे पेश किया जा सकता है।

***श्रीमती बेगम ऐजाज रसूल** (संयुक्तप्रांत : मुस्लिम): मैं यह प्रस्ताव रखती हूं, श्रीमान्, कि:

> ''अनुच्छेद 91 में पहले परन्तुक के बाद निम्नलिखित दूसरा परन्तुक जोड़ा जाये:
>
> 'पर और शर्त यह है कि राष्ट्रपति यह घोषित कर दे कि विधेयक पर वह अपनी अनुमति रोकता है या जब वह विधेयक पर अथवा उसके किसी निर्दिष्ट प्रावधान पर अथवा अपनी किसी सिफारिश पर पुनर्विचार का अनुरोध करते हुए उसे लौटा दे तब, संसद के आगारों को, उसकी सिफारिशों पर पुनर्विचार कर लेने के बाद, उस विधेयक को, किसी संशोधन या बिना संशोधन सहित पास कर देना होगा और राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उसके पास लौटा देना होगा और राष्ट्रपति तब उस पर अनुमति नहीं रोकेगा।' ''
>
> (Provided further that if after the President has declared that he withholds assent from the Bill or has returned the Bill with a request for reconsideration of the Bill or of a specified provision thereof, or of any amendment by him, the Houses of Parliament should, after reconsideration of his recommendations pass the Bill again with or without an amendment and return it to him for his assent, he shall not withhold his assent therefrom.)

विधेयक जब पहली बार राष्ट्रपति के सम्मुख रखा जाये तो वह उस पर क्या कार्रवाई करे, उसकी व्यवस्था अनुच्छेद 91 के प्रस्तुत प्रावधान में दी हुई है। किन्तु यहां इसका खुलासा नहीं किया गया है कि उस सूरत में क्या जाप्ता बरता जायेगा जबकि राष्ट्रपति की किसी सिफारिश को बिना मंजूर किये ही अगर संसद विधेयक को पुन: उसके पास लौटा दे। क्या आपका यह अभिप्राय है कि उस हालत में राष्ट्रपति अपने सुझावों पर पुनर्विचार करने के लिए उसे संसद को फिर लौटा देगा? इसका मतलब तो यह होगा कि विधेयक के संबंध में अनावश्यक विलम्ब होगा और इसका यह भी मतलब होगा कि विधेयक एक बार से अधिक भी राष्ट्रपति को लौटाया जा सकता है। मैंने इसी उद्देश्य से यह संशोधन रखा है कि यह अस्पष्टता जाती रहे और यह स्पष्ट हो जाये कि राष्ट्रपति किसी विधेयक को अपनी सिफारिशों के साथ केवल एक बार ही संसद को लौटा सकता है और अगर संसद राष्ट्रपति द्वारा सुझाये गये संशोधनों को नहीं स्वीकार करती है तो वह विधेयक को पुन: राष्ट्रपति को लौटा देगी और उस सूरत में वह विधेयक को फिर दुबारा संसद को विचारार्थ नहीं लौटा सकता है। हाउस आफ कामन्स में, अगर कोई विधेयक दो बार पास हो जाता है तो स्वत: विधि का रूप ग्रहण कर लेता है चाहे हाउस आफ लार्ड्स भले ही इससे असहमत हो। यही बात अमेरिका में भी है। वहां अगर कोई विधेयक कांग्रेस के दो तिहाई बहुमत से पास हो जाता है तो वह कानून बन जाता है चाहे प्रेसीडेंट उसे

अस्वीकार ही क्यों न कर दे। इस अनुच्छेद में भी कुछ ऐसी ही व्यवस्था रहनी चाहिये ताकि अनावश्यक विलम्ब न हो। इन शब्दों के साथ मैं यह संशोधन पेश करती हूं।

(संशोधन नं. 1690 पेश नहीं किया गया।)

***अध्यक्ष:** संशोधन नं. 1691 और अन्य संशोधनों के अन्दर आ जाता है जो कि पेश किये जा चुके हैं। अब लिया जाता है संशोधन नं. 1692।

***श्री तजम्मुल हुसैन:** मैं यह प्रस्ताव रखता हूं, श्रीमान्, कि:

''निम्नलिखित नया खंड अनुच्छेद 91 में जोड़ा जाये:

'(2) अगर संसद राष्ट्रपति की सिफारिशों को नहीं स्वीकार करती है तो विधेयक फिर राष्ट्रपति को लौटा दिया जायेगा और वह यह घोषणा करेगा कि आया वह विधेयक पर अपनी अनुमति देता है या नहीं। अगर राष्ट्रपति विधेयक पर अपनी अनुमति नहीं देता है तो लोक सभा स्वत: विघटित हो जायेगी और शीघ्र ही नया निर्वाचन किया जायेगा। अगर नये निर्वाचन में पुन: उसी दल का बहुमत रहता है जो कि विघटन के समय अधिकारारूढ़ था तो राष्ट्रपति अपना पद रिक्त कर देगा और विधेयक संसद का कानून बन जायेगा।'

'(2) If the House do not accept the recommendations of the President the Bill shall again be presented to the President, and the President shall declare either that he assents to the Bill or that he does not assent to the Bill. If the President does not assent to the Bill, the House of the People shall automatically dissolve itself, and a fresh election shall be held immediately. If the party that was in power at the time of the dissolution is again returned in majority, the President shall vacate his office and the Bill becomes an Act of Parliament.'

अपनी बात कहने के पहले, श्रीमान्, मैं आपकी अनुमति से अनुच्छेद 91 और उसके परन्तुक को पढ़कर सुना देता हूं। अनुच्छेद 91 का रूप यों है:—

''जब संसद के दोनों आगारों द्वारा कोई विधेयक पारित कर दिया गया है तो वह राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जायेगा और राष्ट्रपति घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है;

पर राष्ट्रपति अनुमति के लिये अपने समक्ष विधेयक उपस्थापन के पश्चात् अधिक से अधिक छ: सप्ताह में, उस विधेयक को, यदि वह मुद्रा विधेयक नहीं है, तो आगारों को संदेश के साथ लौटा सकेगा और इस संदेश में प्रार्थना कर सकेगा

[श्री तजम्मुल हुसैन]

कि वे इस विधेयक पर अथवा इसके किसी उल्लिखित प्रावधान पर पुनर्विचार करें और विशेषतया उन संशोधनों के पुर:स्थापित करने की वांछनीयता पर विचार करे जिनको उसने अपने संदेश में अभिस्तावित किया हो, और आगार विधेयक पर तद्नुसार विचार करेंगे।''

अनुच्छेद 91 में यह कहा गया है कि स्वीकृत हो जाने पर विधेयक राष्ट्रपति के सामने रखा जायेगा और उसे यह अधिकार है कि उस पर अनुमति दे या रोक ले। परन्तुक में कहा गया है कि अगर राष्ट्रपति विधेयक पर अपनी अनुमति नहीं देता है तो वह उसे पुनर्विचारार्थ लोक सभा को लौटा देगा और लोक सभा उस पर फिर विचार करेगी। मेरा कहना यह है कि मान लीजिये लोक सभा उस पर पुनर्विचार नहीं करती है अथवा राष्ट्रपति की सिफारिशों को नहीं मंजूर करती है तो उस सूरत में क्या होगा? ऐसी अवस्था के लिए इस अनुच्छेद में कोई व्यवस्था नहीं की गई है। ऐसी अवस्था की व्यवस्था के लिये ही मैंने प्रस्तुत संशोधन पेश किया है। इसमें यह कहा गया है कि अगर लोक सभा विधेयक पर पुनर्विचार न करे या राष्ट्रपति की सिफारिशों को नामंजूर कर तो विधेयक पुन: राष्ट्रपति को लौटा दिया जायेगा। उस हालत में राष्ट्रपति संसद द्वारा भेजे गये विधेयक को स्वीकार करेगा और अगर वह उसे स्वीकार नहीं करता है तो ब्रिटिश विधान के अनुसार, जैसा कि मैं उसे समझता हूं, लोक सभा स्वत: अपना विघटन कर देगी और नया निर्वाचन होगा। नये निर्वाचन में अगर फिर उसी दल का बहुमत रहता है जो कि पहले अधिकारारूढ़ था तो—अंग्रेजी विधान के अनुसार तो सम्राट को अपना पद त्याग करना होगा—उस सूरत में मैं यह चाहता हूं कि राष्ट्रपति या तो विधेयक को स्वीकार करे या फिर यह समझा जाये कि उसने अपना पद त्याग दिया है और विधेयक स्वत: कानून बन जायेगा। मेरे संशोधन का यही मतलब है। मैं समझता हूं कि अपना यह संशोधन मैं ब्रिटिश विधान के अनुसार ही यहां पेश कर रहा हूं जिसका कि हमने यहां बहुत कुछ अनुकरण किया है। मैं सभा से सिफारिश करता हूं कि वह मेरे संशोधन को स्वीकार करे।

***अध्यक्ष:** सभी संशोधन पेश हो चुके हैं। अब मूल अनुच्छेद और संशोधनों पर बहस की जा सकती है।

***डा. पी.एस. देशमुख:** अध्यक्ष महोदय, स्पष्टत: इस अनुच्छेद में, इसकी मूल वाक्य रचना को देखते हुए, कम से कम दो त्रुटियां तो अवश्य थीं जैसा कि डा. अम्बेडकर द्वारा प्रस्तावित इस संशोधन से ही प्रकट है कि ''अधिक से अधिक 6 सप्ताह में'' (not later than six weeks) शब्दों की जगह ''यथासंभव शीघ्र'' (as soon as possible) शब्द रखे जायें। दूसरी त्रुटि जो इसमें सोची गई थी और जिसे दूर करने के लिए अब एक प्रावधान रखा जा रहा है वह यह है कि अगर राष्ट्रपति विधेयक पर अपनी अनुमति रोक लेता है तो उस सूरत में क्या होगा? अब जो प्रावधान रखा जा रहा है उसका अभिप्राय यह है कि जब विधेयक दूसरी बार राष्ट्रपति के सम्मुख रखा जायेगा तो उसके लिए यह लाजिमी होगा कि वह उस पर अपनी अनुमति दे। विधेयक जब दुबारा उसके पास पहुंचेगा तो उस पर अपनी अनुमति नहीं रोक सकता है। जहां तक कि पहले संशोधन यानी

डा. अम्बेडकर के संशोधन का संबंध है, मैं नहीं कह सकता कि उसका मंजूर किया जाना बहुत जरूरी है। विचारणीय प्रश्न यह है कि आया यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि राष्ट्रपति उस पर यथासम्भव शीघ्र अपनी अनुमति देगा या हमें कोई अवधि निर्धारित कर देनी चाहिये जिसके अन्दर राष्ट्रपति अपनी अनुमति दे ही दे। मैं समझता हूं कि ''अधिक से अधिक 6 सप्ताह में'' ये शब्द अगर यों ही रहने दिये जाते हैं तो राष्ट्रपति का यह कर्त्तव्य होगा कि वह यथासंभव शीघ्र उस पर अपना निर्णय दे दे और किसी भी हालत में वह 6 सप्ताह से ज्यादा समय न ले। अतः प्रस्तावित परिवर्तन को मैं बिल्कुल उचित समझता हूं।

जहां तक कि दूसरे संशोधन का संबंध है, मैं इसे बहुत जरूरी समझता हूं कि उस अवस्था के लिए जबकि राष्ट्रपति अनुमति रोक लेता है, यहां कोई न कोई प्रावधान होना ही चाहिये। यह तो मान ही लेना चाहिये कि राष्ट्रपति सदा प्रधानमंत्री द्वारा दिये गये परामर्श के अनुसार ही कार्य करेगा और अगर लोक सभा द्वारा स्वीकृत किसी विधेयक को अधिकारारूढ़ दल का समर्थन नहीं प्राप्त है तो उस सूरत में विधेयक के पास होने की कोई संभावना ही नहीं रहती है। इसलिए विधेयक पर अनुमति रोकने का प्रश्न तब तक उठेगा ही नहीं जब तक कि राष्ट्रपति अपने को ऐसी परिस्थिति में न पाता हो, जहां अधिकारारूढ़ दल की सिफारिशों से वह मतभेद रखता है और उनसे सहमत न हो। ऐसी अवस्था में यह मान लेना सही होगा कि प्रधानमंत्री या तत्कालीन शासन के विचारों और राष्ट्रपति के विचारों में मेल नहीं बैठ रहा है। ऐसे मतभेद की अवस्था के लिए कोई न कोई समाधान सभा को सोचना ही होगा और उसे यहां पर स्पष्ट प्रावधान रखना ही होगा जिसके प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति के बीच मतभेद की कठिनाई को हल किया जा सके। मेरा ख्याल है कि जहां तक कि उपरोक्त स्थिति का संबंध है, प्रस्तावित संशोधन से उसका समाधान हो जाता है। इसलिये मैं इसका समर्थन करता हूं।

***श्री एच.वी. कामतः** अध्यक्ष महोदय, मेरे माननीय मित्र श्री मिश्र ने जो संशोधन (नं. 1680) पेश किया उसका समर्थन करने के लिये तथा अपने विद्वान मित्र डा. अम्बेडकर के संशोधन नं. 1685 का विरोध करने के लिए मैं खड़ा हो रहा हूं। मेरे माननीय मित्र डा. देशमुख ने श्री मिश्र के संशोधन का पांडित्यपूर्ण ढंग से समर्थन कर दिया है और उस पर मैं अधिक कुछ नहीं कहना चाहता हूं। जहां तक कि माननीय विद्वान मित्र डा. अम्बेडकर द्वारा प्रस्तावित संशोधन का संबंध है मैं यह जरूर कहूंगा कि उन्होंने सभा के समक्ष उसे रखकर बुद्धिमत्ता का काम नहीं किया है। इससे मुझे इस कथन का स्मरण हो आता है कि ''होमर की प्रतिमा भी कभी-कभी सो जाया करती है''। मेरा ख्याल है कि डा. अम्बेडकर यहां धोखा खा गये। वह एक अनुभवी व्यक्ति हैं। न केवल एक अनुभवी पब्लिक मैन ही वह हैं बल्कि एक अनुभव संपन्न राज्य मंत्री भी हैं। उसके जैसा व्यक्ति एक निश्चित अवधि और ''यथासंभव शीघ्र'' इसमें कितना बड़ा अन्तर है यह न समझ सके, यह बड़ा ही आश्चर्यप्रद सा मुझे लगता है। मानव स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि अगर कर्तव्य और सेवा के लिए उस पर कोई अंकुश नहीं रहता है तो वह सदा ही टालमटोल और दीर्घ सूत्रता की प्रवृत्ति अपना लेता है। हमारे विज्ञ मनीषी इस प्रवृत्ति को समझते थे। इसके संबंध में उन्होंने कहा है कि:

आलस्यो हि मनुष्याणाम्।
शरीरस्थो महान् रिपुः।

[श्री एच.वी. कामत]

यानी आलस्य मनुष्यों का एक बड़ा शारीरिक शत्रु है। कर्तव्य और सेवा भावना भरकर हमें टाल-मटोल और दीर्घ सूत्रता की प्रवृत्ति को विनष्ट करना ही होगा। हम इस बात को निश्चित नहीं मान सकते कि भारतीय लोक राज्य का प्रत्येक राष्ट्रपति सदा कर्तव्य और सेवा के उच्च आदर्शों से प्रेरित होकर ही अपना काम करेगा। अवश्य ही हम आशा करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि ऐसा ही हो, पर इसकी कोई गारंटी नहीं है कि ऐसा ही होगा। इसलिए मेरी राय में यह बहुत जरूरी है कि इस तरह की अवस्था के लिए हम विधान में एक निश्चित अवधि अवश्य निर्धारित कर दें। मुझे यकीन है कि एक मंत्री की हैसियत से डा. अम्बेडकर जरूर जानते होंगे कि सरकारी सचिवालय की विभिन्न फाइलें 'इमीजियेट', 'अर्जेंट' या 'अर्ली' (early) आदि लेबुलों के साथ अरसे तक इधर से उधर ठोकर खाती रहती हैं। जिन फाइलों पर 'इमीजियेट' लेबुल लगा है वह मंत्री महोदय के पास एक दिन में पहुंचती हैं और जिस पर 'अर्जेंट' का लेबुल लगा है वह दो दिन में और जिस पर 'early' का लेबुल लगा है वह तो दो तीन महीने तक सचिवालय में ही दबी पड़ी रह जाती है। और फिर वर्तमान सरकार ने 'विचारार्थ' और ''क्रियात्मक विचारार्थ'' (consideration and active consideration) जैसे नये लेबुल भी निकाल रखे हैं ऐसी सूरत में मैं चाहता हूं कि ''as soon as possible'' शब्दों के रखने से जो भी कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हों वह जाती रहें। कोई नहीं जानता कि ''as soon as possible'' का मतलब क्या है? हमें मालूम है कि असेम्बली में मंत्रीगण प्रश्नों के उत्तर में आदतन ''as soon as possible'' कह दिया करते हैं। जब कभी यह पूछा जाता है कि अमुक काम कब तक हो जायेगा तो उत्तर यही मिलता है कि ''as soon as possible'' या यह कि ''very soon'' (शीघ्र ही)। यह पद संहति सर्वथा अस्पष्ट है, प्रयोजन शून्य है और इसका कोई अर्थ नहीं है। इस पद संहति को विधान में और खास करके इस तरह के अनुच्छेद में, जहां हम यह निर्धारित कर रहे हों कि राष्ट्रपति अमुक अवधि के भीतर फला काम कर ही देगा, हमें स्थान ही नहीं देना चाहिये। हम यह अनुच्छेद ही क्यों रख रहे हैं? इसीलिये कि कोई विधेयक राष्ट्रपति के सचिवालय में—और मैं जानता हूं कि राष्ट्रपति का सचिवालय अन्य सचिवालयों से कुछ भिन्न नहीं होगा—त्रिशंकु की तरह लटका न रह जाये। इसलिए मैं डॉ. अम्बेडकर से अनुरोध करूंगा कि वे अपना संशोधन वापस ले लें। इससे कोई लाभ नहीं है। मैं अनुरोध करूंगा कि यह अनुच्छेद ज्यों का त्यों पास किया जाये। मैं डा. अम्बेडकर के संशोधन का विरोध और श्री मिश्र के संशोधन का समर्थन करता हूं।

***अध्यक्षः** अब मैं संशोधनों पर राय लेता हूं। क्या आप कुछ कहना चाहते हैं, डा. अम्बेडकर?

***माननीय डा. बी.आर. अम्बेडकरः** नहीं, श्रीमान्। मैं नहीं समझता कि जवाब में कुछ कहना जरूरी है।

***अध्यक्ष:** संशोधन नं. 1680 और 1688 दोनों एक ही आशय के हैं पर नं. 1688 की वाक्य रचना जरूर कुछ अच्छी है। मैं पहले नं. 1688 पर ही राय लेता हूं।

प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 91 के परन्तुक के आगे निम्नलिखित अंश और जोड़ दिया जाये:

'और अगर विधेयक संशोधन सहित या बिना संशोधन के पुन: सभा द्वारा पास हो जाता है तो राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति नहीं रोकेगा।' ''

संशोधन स्वीकृत हुआ।

***अध्यक्ष:** मैं समझता हूं कि इससे संशोधन 1689 पर रुकावट आ जाती है क्योंकि दोनों का आशय एक ही है। इस पर राय लेने की जरूरत नहीं है।

अब मैं संशोधन 1692 को लेता हूं जिसे श्री तजम्मुल हुसेन ने पेश किया है।

प्रस्ताव यह है कि:

'(2) अगर संसद राष्ट्रपति की सिफारिशों को नहीं स्वीकार करता है तो विधेयक फिर राष्ट्रपति को लौटा दिया जायेगा और वह यह घोषणा करेगा कि आया वह विधेयक पर अपनी अनुमति देता है या नहीं। अगर राष्ट्रपति विधेयक पर अपनी अनुमति नहीं देता है तो लोक सभा स्वत: विघटित हो जायेगी और शीघ्र ही नया निर्वाचन किया जायेगा। अगर नये निर्वाचन में पुन: उसी दल का बहुमत रहता है जो कि विघटन के समय अधिकारारूढ़ था तो राष्ट्रपति अपना पद रिक्त कर देगा और विधेयक संसद का कानून बन जायेगा।''

संशोधन नामंजूर हुआ।

***अध्यक्ष:** एक संशोधन रह गया है जो है संशोधन नं. 1685 जिसे डा. अम्बेडकर ने पेश किया है। इस पर एक संशोधन श्री नजीरुद्दीन अहमद ने रखा है। मैं श्री नजीरुद्दीन अहमद के संशोधन पर मत लेता हूं।

प्रस्ताव यह है कि:

''संशोधन-सूची में संशोधन नं. 1685 में अनुच्छेद 91 के परन्तुक के लिए प्रस्तावित शब्द ''possible'' के लिए ''may be'' शब्द रखे जायें''

संशोधन नामंजूर हुआ।

***अध्यक्ष:** अब मैं संशोधन नं. 1685 पर मत लेता हूं।

[अध्यक्ष]

प्रस्ताव यह है कि:

प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 91 के परन्तुक में 'अधिक से अधिक 6 सप्ताह में' (not later than six weeks) शब्दों की जगह 'यथासंभव शीघ्र' (as soon as possible) शब्द रखे जायें।''

संशोधन स्वीकृत हुआ।

***अध्यक्ष:** अब इन दोनों संशोधनों—नं. 1685 और 1688—द्वारा संशोधित अनुच्छेद पर राय लेता हूं।

प्रस्ताव यह है कि:

''अनुच्छेद 91 अपने संशोधित रूप में विधान में शामिल किया जाए।''

प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

अनुच्छेद 91 संशोधित रूप में विधान में शामिल किया गया।

***अध्यक्ष:** अब बैठक स्थगित होती है। सोमवार की शाम को 5 बजे सभा पुन: समवेत होगी।

इसके बाद सभा सोमवार, 23 मई सन् 1949 ई. की शाम को 5 बजे तक के लिये स्थगित हुई।